भारतीय साहित्य में काव्यात्मक गुण-तत्व

भरतमुनि
भोजराज
भामह
मम्मट
दण्डी
वाग्भट
वामन
हेमचन्द्र
जयदेव
महर्षिव्यास
आनन्दवर्धन
विश्वनाथ
केशवमिश्र

डॉ. पूजा अग्रवाल

भारतीय साहित्य में काव्यात्मक गुण-तत्व

भारतीय साहित्य में काव्यात्मक गुण-तत्व

डॉ. पूजा अग्रवाल



सरिता बुक हाउस
दिल्ली (भारत)

प्रथम संस्करण : 2007
ISBN : 81-85394-46-6

प्रकाशक : पी.एस. नेगी
सरिता बुक हाउस
186, गुरू रामदास नगर,
मेन मार्केट,लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92
फोन : 09899676343, 09411535527, 09410324032

कम्प्यूटराइज्ड एण्ड कवर डिजाइन : हेमन्त कुमार
शिव विजुअल इमेजस, दिल्ली
09213500722

मुद्रक : रूचिका प्रिन्टर्स शाहदरा, दिल्ली

मूल्य 350.00

Bhartiya Sahitya Mein Kavyatmak Guna-Tatva
Dr. Pooja Agarwal

समर्पण

ब्रह्मलीन

स्व॰ - श्रीमती मायावती अग्रवाल

की आत्मरूप परमज्योति को श्रद्धांजलि

पुरोवाक्

संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही काव्यशास्त्रीय आचार्य काव्य के आवश्यक उपादानों एवं काव्य के आत्मरूप के विषय में खोज करते रहे हैं उनकी विश्लेषणात्मक प्रज्ञा ने काव्य में अनेक तत्वों की संकल्पना की जिसके परिणामस्वरूप काव्यशास्त्र में विभिन्न धारणाओं का आविर्भाव हुआ इनके रस, अलंकार, रीति, गुण, वृत्ति, ध्वनि, औचित्य वक्रोक्ति आदि तत्वों को काव्य रचना में अनिवार्य तत्व माना गया।

विद्वत समाज में किसी एक तत्व के प्रति सतैक्य न होने के कारण काव्यशास्त्र में विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म हुआ।

''सगुणौ शब्दार्थो काव्यम्'' प्रायः सभी आचार्यों का यही मत है तथापि गुण विषयक कोई स्वतंत्र ग्रन्थ दृष्टिगत नहीं होता अतः मैंने वाग्देवी सरस्वती के आशीर्वाद से गुण तत्व के प्रमुख समालोचक विद्वानों के गुण सम्बन्धी मान्यताओं का ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसी क्रम में भारतीय मनीषियों के सैद्धान्तिक पक्षों की विविधता का पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन करके सर्वमान्य सिद्धान्त की स्थापना का भी प्रयास असन्दिग्ध है।

साहित्यशास्त्र के सामान्य परिचय के बाद गुण-तत्व की प्राचीनता तथा उपादेयता को सिद्ध करने हेतु गुण तत्व का ऐतिहासिक विवेचन उद्भव एवं विकास तथा काव्यशास्त्रीय आचार्यो की दृष्टि में गुण-तत्व का विवेचन किया गया है।

गुण-तत्व के पोषक आचार्यो द्वारा निर्धारित गुण-तत्व के स्वरूप एवं काव्य के अन्य तत्वों की तुलना में गुण तत्व के महत्व एवं उपयोगिता के निर्धारण को द्वितीय अध्याय का विषय बनाया गया है। तृतीय अध्याय में काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यो द्वारा गहन

अध्ययन एवं चिन्तन के फलस्वरूप किये गये गुणों के भेदों का सामान्य एवं तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

साहित्यशास्त्र में प्रतिपादित अन्य सम्प्रदाय एवं उनकी दृष्टि में गुण-तत्व के महत्व उपयोगिता एवं अपरिहार्यता को प्रतिपादित करना ही चतुर्थ अध्याय का उद्देश्य है। पञ्चम एवं अन्तिम अध्याय में काव्यात्मा का अभिप्राय: काव्य के आत्मरूप गौरवमय पद पर प्रतिष्ठित काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के काव्यात्मा विषयक सिद्धान्तों की समीक्षा एवं गुण-तत्व के काव्यात्मत्व को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है।

इसी सन्दर्भ में संस्कृत के साथ ही हिन्दी काव्यशास्त्रीय समीक्षकों के विचारों एवं गुण-धारण को भी प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र के आरम्भिक काल से अद्यावधि अनवरत प्रवाहित होने वाली काव्य-गुण-मीमांसा का ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का यह मेरा प्रथम प्रयास है।

इस प्रयास में मैं कितनी सफल हो पायी हूँ यह तो सुधी पाठक ही बताएंगे मैं डॉ० सुरेन्द्र जोशी हिन्दी विभाग (एस०आर०टी० परिसर टिहरी) का हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिनके सहयोग से पुस्तक का प्रकाशन हुआ और साथ ही मेरे प्रेरणास्त्रोत मेरे पति श्री संजीव अग्रवाल का मैं हार्दिक धन्यवाद करती हूँ जिनकी प्रेरणा और सहयोग से पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका।

अन्त में प्रकाशक पी०एस० नेगी जी का भी पुस्तक प्रकाशित करने में मुझे पूरा सहयोग प्राप्त हुआ मैं उनके प्रयास को धन्यवाद मात्र कहकर कम नहीं करना चाहती।

-डॉ. पूजा अग्रवाल

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

द्वितीय अध्याय :–

तृतीय अध्याय :–

पृष्ठ संख्या

भारतीय साहित्य में काव्यात्मक गुण-तत्व

साहित्य शास्त्र का सामान्य परिचय

संस्कृत भाषा में अंलकार शास्त्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीन तथा महान है। आज इतने समय बाद भी विश्व की किसी भाषा का साहित्य अथवा अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत भाषा के अलंकार शास्त्र के विशालतम शब्दावली गणना अथवा गहन विचार क्षमता को जीतने में समर्थ नहीं है।

संस्कृत भाषा में अलंकार शास्त्र इस शब्द के अन्तर्गत काव्य के भेद, स्वरूप, नायक–नायिका भेद, दोष गुण अंलकार आदि का सांगोपांग निरूपण किया गया है।

अंलकार शास्त्र के प्रस्तुत मूल तत्व न केवल लौकिक साहित्य में वरन् आज से हजारों वर्ष पूर्व वैदिक साहित्य के युग में विद्यमान थे।

ऋग्वेद में हमे महर्षि विश्वामित्र के शतद्रु तथा विपाशा नदियों के संगम स्थल पर पहुँचने तथा वहाँ इन नदियों के उच्छ्वसित जल को देखकर अकस्मात् उनके हृदय स्थली से मनोरम भाव प्रस्फुटित हो उठे।

"प्र पर्वतानामुशतीं उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।"[1]

अर्थात् पर्वतों के उत्संग से प्रवाहित हुई तथा समुद्र की ओर जाने की कामना करने वाली खुली हुई दो घोड़ियों के समान,

(1) ऋग्वेद – 3/33.1 मन्त्र
(2) ऋग्वेद – 1/94.4
(3) सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते
– साहित्यदर्पण 10/46

हंसी से खिलखिलाती हुई, दो शुभ्र बछड़े वाली गौवों के समान चाटने की इच्छा करती हुई सी, ये दोनो विपाशा तथा शुतुद्री नदियाँ अपनी विशाल जलधारा द्वारा अत्यन्त तीव्र गति से प्रवाहित हो रही है।

ऋग्वेद के प्रस्तुत मन्त्र में उत्तम काव्य जिसे ध्वनि काव्य भी कहते हैं, के समस्त तत्व उपस्थित है।

इस मन्त्र में माधुर्य गुण हैं। उपमा अंलकार की चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति है। श्रृंगार तथा वात्सल्य रस का सौन्दर्यशाली प्रयोग है। इस प्रकार –

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षमाभिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।"[2]

उपरोक्त मन्त्र अपने गहन भावों की अभिव्यंजना तथा अपने चमत्कारिक अतिशयोक्ति अंलकार के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध है। यहाँ आत्मा, परमात्मा तथा प्रकृति इन प्रकृत के लिए "सयुजा" पक्षी तथा पिप्पल इन तीनों उपमानों का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर सयुजा पक्षी आदि उपमानों से प्रकृत आत्मा आदि सत्य वस्तु को निर्गीण कर लिया गया है। अतः अतिशयोक्ति अंलकार हुआ।[3]

जगन्नाथ ने भी अपने अंलकार ग्रन्थ "रसगंगाधर" में प्रस्तुत मन्त्र में प्रयुक्त अतिशयोक्ति की प्रशंसा निम्न शब्दों में की है।

"इयं चातिशयोक्तिर्वेदेऽपि दृश्यते यथा द्वासुपर्णा.............शीति।"[1]

ऋग्वेद में ये काव्यत्त्व के तत्व केवल मुक्तक काव्य के रूप में ही उपलब्ध नहीं होते, वरन प्रबन्ध काव्य के रूप में भी इनका प्रादुर्भाव होने लगा था। न केवल ऋग्वेद बल्कि यजुर्वेद, सामवेद

तथा अथर्ववेद में भी काव्य के गुण, अंलकार तथा रस से युक्त काव्यात्मक रूप के दर्शन होने लगे थे।

लौकिक संस्कृत में काव्य शास्त्र के बीज

लौकिक संस्कृत में काव्य रचना के दो प्राचीनतम रूप प्राप्त होते हैं।

1) रामायण एवं महाभारत –

प्रस्तुत दोनों ग्रन्थ अपने उत्तरवर्ती काव्यों के लिए उपजीव्य बन गये थे। इनके आधार पर अथवा प्रस्तुत दोनों महाकाव्यों के छोटे–छोटे कथानकों को आधार लेकर उत्तरकाल में कवियों ने अपने महान काव्य कौशल से अनेकानेक ग्रन्थ रत्नों को प्रस्तुत किया, जिसके आधार पर अलंकार शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय बने तथा काव्य के विभिन्न तत्वों का अंलकार शास्त्रीय ग्रन्थों में विवेचन किया गया। जैसे – महर्षि वाल्मीकि के मुख से अकस्मात् ही निकलने वाले प्रस्तुत श्लोक[2] को संस्कृत साहित्य शास्त्र के लगभग सभी समालोचकों में प्रथम छन्दोमय काव्य प्रतिपादित किया है।

आनन्दवर्धन जो कि इस काव्य में विद्यमान प्रतीयमान अर्थ या रस रूप अर्थ को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं, ने भी ध्वन्यालोक में "मानिषाद" आदि श्लोक को ही काव्यत्व की कोटी

---

(1) अतिशयोक्ति प्रकरण – रसगंगाधर

(2) मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

(3) काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागता।।

में गिना है।[3] रमायण तथा महाभारत के उपरान्त इन काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की धारा अजस्र रूप में प्रवाहित होती रही। काव्य शास्त्र के विकास क्रम का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है।

काव्यशास्त्र के विभिन्न नामकरण

काव्य की समालोचना उसके गुण–दोषों आदि की विवेचना करने वाला ग्रन्थ अंलकारशास्त्र, काव्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र आदि नामों से पुकारा जाता है। इस नामकरण के अपने विशेष हेतु है। जिनका संक्षिप्त विवेचन करना यहाँ प्रांसगिक होगा।

अलंकार शास्त्र :–

काव्य की समालोचना करने वाले ग्रन्थों का अलंकार शास्त्र नाम अति प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रहा है। भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी काव्य की समालोचना करने वाले ग्रन्थों को काव्य अलंकार नाम से ही सम्बोधित किया। शायद इस नाम का मुख्य कारण ये था कि प्रायः समस्त आचार्यों ने अलंकारों को ही काव्य का मुख्य शोभा आधायक तत्व मानते हुये अलंकारों की ही विवेचना अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में की। दण्डी ने भी अपने ग्रन्थ का नाम काव्यादर्श तो रखा, परन्तु उसके लगभग तीन चौथाई भाग में अलंकारों का ही विवेचन किया गया है। यद्यपि काव्य के अन्तर्गत रस, गुण, रीति, वृत्ति आदि सभी काव्य तत्व समालोचना के विषय बने रहे तथापि समस्त काव्यों में अलंकारों की प्रधानता के कारण काव्य की विवेचना करने वाले ग्रन्थ को अलंकार शास्त्र नाम दिया गया।

"प्रतापरूद्रयशोभूषण की रत्नापण टीका" में कुमार स्वामी ने इस तथ्य के विषय में कहा है कि क्षत्रिन्याय से इस शास्त्र का नाम अलंकार शास्त्र है।[1] इसी प्रकार काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की कामधेनू टीका" के लेखक गोपेन्द्रतिप्पभूपाल ने भी अलंकार शास्त्र के नामकरण का आधार औचित्य को बतलाया है।[2] पूर्ववर्ती से लेकर आज तक के सभी काव्यों में अलंकार ही प्रमुख सौन्दर्य आधायक तत्व था। काव्य की समालोचना भी अलंकारों की विवेचना से प्रारम्भ हुयी। अलंकारों के विषय में हुयी इसी गहन मीमांसा के अन्तर्गत वक्रोति नामक अलंकार का प्रतिपादन हुआ, जिसे काव्य का प्रमुख तत्व स्वीकार करते हुए कुन्तक ने काव्य की आत्मा माना तथा वक्रोति सम्प्रदाय की स्थापना हुयी। इसी प्रकार कुछ "दीपक" आदि अलंकारों ने ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना की। अतः अलंकारों का ही विवेचन विशेष रूप से होने के कारण इन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को अलंकार शास्त्र नाम देना समीचीन ही प्रतीत होता है।

काव्यशास्त्र :—

(1) यद्यपि रसालंकारराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अंलकारशास्त्रमुच्यते।
—प्रतापरूद्रयशोभूषण रत्नापणटीका — पृ० 3

(2) योऽयमलंकारः काव्यग्रहणहेतुत्वेन उपन्यस्यते
तद्व्युत्पादत्वाच्छास्त्रमपि
अलंकारनाम्ना व्यपदिश्यत इति।
शास्त्रस्यालंकारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्यादिति सूचयितुमयं विन्यासः कृतः ग्राह्यमलंकाराद् इति।

काव्यशास्त्र ग्रन्थों के अन्तर्गत काव्य के जीवनाधायक रस, गुण, दोष, अलंकारादि समस्त तत्वों का सम्यक् विवेचन किया गया है, इसीलिए पूर्वोक्त कहे गये अलंकारशास्त्र को ही काव्यशास्त्र के नाम से भी पुकारा गया है। काव्य की समीक्षा करने वाले सभी ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि व काव्य का लक्षण कर रहे हैं।[1] अलंकारवादी अचार्यों को आनन्दवर्धन ने काव्य लक्षण विधायी कहा।[2] काव्यशास्त्र इस पद में काव्य के साथ शास्त्र शब्द का क्या औचित्य है? इस सम्बन्ध में विद्वानों ने दो व्युत्पत्तियाँ दी है।

सामान्य रूप से शास्त्र पद का अर्थ होता है :–

''शासनात् शास्त्रम्'' अर्थात शासन करने वाला शास्त्र होता है, जो कि काव्य के सन्दर्भ में अनुपयुक्त है, तथापि काव्य शास्त्र शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले भोजराज ने इस पद का प्रयोग ''शासनात् शास्त्रम्'' व्युपत्ति मानकर ही लिया है।

शास्त्र शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति है :–

''शासनात् शास्त्रम्'' अर्थात किसी गूढ़ या रहस्यमय तत्त्व का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ चूंकि काव्य शास्त्र काव्य के गूढ़ तत्वों का रहस्योदघाटन करता है। अतः वास्तव में उपर्युक्त व्युत्पत्ति द्वारा ही काव्यशास्त्र का अभिप्राय समझना चाहिए।

सौन्दर्यशास्त्र :–

समालोचकों ने आलोचनाशास्त्र की इस विधा को सौन्दर्य शास्त्र नाम भी दिया है। जैसा कि वामन ने अलंकार का स्वरूप ही सौन्दर्य को बताया है।[3] प्रायः सभी आचार्यों तथा समालोचकों

ने काव्य में सौन्दर्य की अनिवार्यता बतलायी है। जिसके अभाव में अलंकार काव्य भूषण न होकर केवल बोझ मात्र रह जायेंगे, दूषण हो जायेंगे। चारूत्व की अतिशयता का नाम ही सौन्दर्य है। ध्वनिकार, अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धनाचार्य आदि आचार्य भी काव्य की आत्मा रूप जो प्रतीयमान अर्थ है, उस व्यंग्यार्थ में सौन्दर्य की प्रतीति अनिवार्य रूप से स्वीकार करते है।[4]

काव्य की अनिवार्य तत्व होते हुए भी प्रस्तुत विधा का सौन्दर्यशास्त्र नाम अधिक प्रचलित न हुआ, क्योंकि चारूत्व का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, जो केवल काव्य में घटित न होकर समस्त ललित कलाओं नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि में भी सन्निविष्ट है।

क्रियाकल्प :–

काव्यशास्त्र का क्रियाकल्प नाम अति प्राचीन है, जो वात्स्यायन के समय से ही प्रसिद्ध है। "क्रियाकल्प" शब्द का प्रयोग प्राचीन काव्यों में, कामसूत्र में, ललित विस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ में, दण्डी के काव्यादर्श में तथा "जय मंगला टीका" में भी प्राप्त

(1) यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्। –काव्यदर्श 1/2

(2) किंच वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते।
– ध्वन्यालोक की वृत्ति 1/1

(3) सौन्दर्यमलंकारः ।। –काव्यालंकारसूत्र 1/1, 2

(4) "चारूत्वप्रतीतिः तार्हि काव्यस्यात्मा" इति तदंगीकुर्म एवं नास्तिक खल्वयं विवाद इति।। – ध्वन्यालोक लोचनटीका पृ० 33

होता है।[1] रामायण के उत्तरकाण्ड में भी इस शब्द का प्रयोग होने से इस बात की सम्भावना है कि रामायण के युग में इस समालोचना की विधा को क्रियाकल्प कहा जाता था। किन्तु पी0वी0 काणे इस मत का प्रबल विरोध करते है, उनका मत है कि क्रिया–कल्प काव्य–रचना–प्रक्रिया को तो कहा जा सकता है, किन्तु काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ को नहीं। इन्ही आलोचनाओं के चलते यह कहा जा सकता है कि प्राचीन युग में काव्य शास्त्र का नाम क्रियाकल्प रहा था, इसका दृढ़ आधार प्राप्त नहीं होता है।

साहित्य शास्त्र :–

साहित्य शब्द की उत्पत्ति व्याकरण में इस प्रकार है – ''सहितस्य भावः साहित्यम्'' में भामह ने भी इसी भाव को ग्रहण करते हुए काव्य की परिभाषा की है कि शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य है।[2]

यद्यपि साहित्य शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है और साहित्य शब्द से तात्पर्य समस्त संस्कृत वाङ्मय से लगाया गया है।[3] तथापि काव्य शास्त्र के रूप में सर्वप्रथम इस ''साहित्य''

(1) क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः।
(2) शब्दार्थो सहितौ काव्यम्। –काव्यालंकार – 1/16
(3) साहित्यपयोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत् हे कवीन्द्राः। –विक्रमांकदेवचरित – 1/11
(4) ''पंञ्चमी साहित्यविधेति यायावरीयः स हि चतसृणामपि विधाना निष्यन्दः''।। –काव्यामीमांसा द्वितीय अध्याय – पृष्ठ 8

शब्द का प्रयोग राजशेखर ने किया था।[4] जिसे तदन्तर पश्चात्वर्ती समालोचकों विश्वनाथ तथा रूय्यक आदि ने अपने ग्रन्थों "साहित्यदर्पण" तथा "साहित्यमीमांसा" के द्वारा लोकप्रिय बनाया तथा साहित्यदर्पण आदि में काव्य लक्षण, स्वरूपादि बोधक लक्षणग्रन्थों का नाम देकर समस्त विधान्तरों में व्याप्त साहित्य यहाँ काव्य मात्र को द्योतक है।

साहित्य शास्त्र का काल विभाजन

साहित्य शास्त्र का प्रारम्भ कब, कैसे हुआ? यह अत्यन्त जटिल प्रश्न है, तथापि वे स्वयं ही अमरकाव्य है, ऐसा संसार में विदित है –

"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यते"।

इस प्रकार अलंकारशास्त्र की जन्मभूमि भी वेद ही है। वेदों में ही काव्यशास्त्र के बीज प्राप्त होने लगे थे। तथापि नाट्यशास्त्र से पूर्व कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं होता, जो मुख्य रूप से केवल काव्यशास्त्र से सम्बन्धित हो।

भरतमुनि से लेकर आज तक काव्यशास्त्र का जो क्रमिक विकास हुआ, उसे हम मुख्यतः चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

1) आदिम काल (अज्ञात काल या वैदिकयुग से लेकर भामह)।
2) रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धनाचार्य तक)। 600–800 वी0
3) निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धनाचार्य से मम्मट पर्यन्त) 800–1000 वि0
4) व्याख्यात्मक काल (मम्मट से लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक) 1000–1750 वि0

आरम्भिक काल :–

काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल में भरत तथा भामह की ही रचनाएं प्राप्त होती है। भरतमुनि ने अपने "नाट्यशास्त्र" में नाट्य के तत्वों का विवेचन किया है, जिसके अन्तर्गत रसों, चार अलंकारों, 10 गुणों तथा 10 दोषों का भी निरूपण किया है, जो कि काव्यशास्त्र के विषय है। "अग्नि–पुराण" भी इस काल का ग्रन्थरत्न माना जाता है, परन्तु भामह ही अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य माने गये हैं, तथा उनका काव्यालंकार नामक ग्रन्थ ही अलंकारशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है।

रचनात्मक काल :–

रचनात्मक काल अलंकारशास्त्र का महिमामय काल था। इस काल में अलंकारशास्त्र के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये, साथ ही इस काल में काव्यशास्त्र के क्षेत्र में चार अन्य सम्प्रदायों का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिनके प्रमुख आचार्यों तथा सम्प्रदायों का उल्लेख निम्न प्रकार है –

1) अलंकार सम्प्रदाय – भामह, रूद्रट, उद्‌भट्‌ट।
2) रीति सम्प्रदाय – दण्डी, वामन।
3) रस सम्प्रदाय – भट्‌लोल्लट, अभिनवगुप्त आदि।
4) ध्वनि सम्प्रदाय – आनन्दवर्धनाचार्य

निर्णयात्मक काल :–

निर्णयात्मक काल में वक्रोति सम्प्रदाय का उन्नयन हुआ। प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ "काव्यप्रकाश" की रचना भी मम्मट द्वारा इसी युग में की गयी। इसके अतिरिक्त व्यक्तिविवेककार, महिमभट्‌ट, भोजराज, धनिक, धनञ्जय आदि प्रमुख आर्चाय हुए,

जिनमें से अधिकतर ने आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त का ही समर्थन किया।

व्याख्यात्मक काल :–

व्याख्यात्मक काल आचार्य मम्मट के काल से प्रारम्भ होकर अट्ठारवीं शताब्दी के विश्वेश्वर पण्डित तक विस्तृत है, जिसने लगभग सात सौ पचास वर्षों को व्याप्त किया हुआ है। इस काल के आचार्यों ने जहाँ मौलिक चिन्तन किया, वहीं उससे कहीं अधिक प्राचीन आचार्यों के मतों की व्याख्या भी की।

व्याख्यात्मक काल के आचार्यों की मुख्य विशेषता यह थी कि इन्होंने काव्य के किसी एक अंग या तत्व का वर्णन न करके समस्त काव्यांगों के सर्वांगपूर्ण विवेचना ग्रन्थ लिखे।

2) व्याख्यात्मक काल की द्वितीय विशेषता क्षेमेन्द्र के नितान्त मौलिक चिन्तन पर आधारित "औचित्य–विचारचर्चा" नामक ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने औचित्य को ही काव्य का आत्मत्व स्वीकार किया है। इस युग के प्रमुख आचार्य रूय्यक, विश्वनाथ, विद्याधर, जयदेव, पण्डित राजजगन्नाथ, अप्पयदीक्षित, शिंगुभूपाल, शारदातनय, विश्वेश्वर तथा क्षेमेन्द्र रहें। चूंकि साहित्यशास्त्र के विकासक्रम में ध्वनि की उद्भावना तथा उसका आत्मरूप में स्थापित होना प्रमुख घटना थी। समस्त परवर्ती आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में ध्वनि का ही पोषण किया। अतः काव्यशास्त्र के इतिहास को इस दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते है।

1) ध्वनि से पूर्व का युग – वैदिक युग से 8वी शताब्दी पर्यन्त।
2) ध्वनि युग – 8 वीं शताब्दी से 10 वीं शताब्दी पर्यन्त।
3) ध्वनि का व्याख्या युग – 10वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक।

साहित्यशास्त्र का विकास :—

काव्य का निर्माण हो जाने के बाद उस काव्य के स्वरूप, दोष, गुण, अलंकार आदि की जिस ग्रन्थ में विवेचना की जाती है, उसे अलंकार शास्त्र कहते हैं। जिस प्रकार व्याकरण अपनी सत्ता के लिए शब्द तथा भाषा की व्युत्पत्ति पर आश्रित है, ठीक उसी प्रकार अलंकार शास्त्र भी शास्त्र की निपुणता सम्पूर्णता की अपेक्षा करता है।

काव्य में मनोहर शब्दों के साथ–साथ मंगलकारी अर्थ का होना भी अति आवश्यक है। इसलिए काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने अपनी काव्य परिभाषा में शब्द के साथ अर्थ को भी अनिवार्य रूप से गुण, अलंकारादि से युक्त होना बतलाया है।[1] काव्य में सौन्दर्य के उत्कर्षक तथा आधायक अलंकारादि के विषय में कवि तथा समालोचकों में मतैक्य नहीं हैं। जहाँ महाकवि कालिदास स्वाभाविक सौन्दर्य के समक्ष कृत्रिम सौन्दर्य को नगण्य मानते है,[1] वहीं भामह आदि आलंकारिक आचार्य कृत्रिम भूषणों के बिना कान्तमनोहर देह को भी आकर्षक नहीं मानते।[2] इसी द्विमतों के कारण तथा काव्य में गुण, अलंकारादि के कार्य तथा महत्व, उपयोगिता का निरूपण करने के लिए ही अलंकार शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। अलंकारशास्त्र के कतिपय आचार्यों ने रस को ही काव्य का आत्मतत्त्व मानकर उसी रस में ही सभी काव्यतत्वों को

---

(1) शब्दाथौ सहितौ काव्यम् — भामह काव्यालंकार 1/16
शब्दार्थौ काव्यम् — रूद्रट काव्यालंकार 2/1
शब्दार्थमात्र वचनोऽत्र गृह्यते।
— वामन काव्या० सूत्र० 1/1/1

समावेश किया, तो वहीं कतिपय आचार्यों ने अलंकार ही काव्य के सौन्दर्य आधायक तत्व है, ऐसा मानकर अलंकार के विशाल प्रागंण में ही गुण, सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्यंग, लक्षण, रसभाव आदि का समावेश करने का प्रयास किया।[3] किन्तु नीर–क्षीर विवेकी आचार्यों ने अंलकारों की कार्य–सीमा, महत्व तथा उपयोगिता आदि का युक्ति युक्त निरूपण किया। इन आचार्यों में काव्यादर्शकार, दण्डी तथा वामनादि प्रमुख है।

इसी क्रम में लक्षणों तथा सिद्धान्तों के खण्डन–मण्डन रीति द्वारा नवीन सिद्धान्तों, नवीन सम्प्रदायों तथा विचारधाराओं का उद्‌भव हुआ तथा काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अनेकानेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थरत्नों का प्रादुर्भाव हुआ। दण्डी के काव्यादर्श की 'हृदयंगमाटीका' में काश्यप तथा वररूचि तथा अन्य ग्रन्थों में नन्दिस्वामी, ब्रह्मदत्त, दन्तिज आदि आचार्यों के नामोल्लेख तथा उपलब्ध उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है, कि भरत से पूर्व भी भारतीय काव्यशास्त्र समृद्ध हो चुका था। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, किन्तु ये ग्रन्थ असमय अपने स्मृति चिह्नों सहित नष्ट हो गये, तथापि प्रमाणरूप में हमें जूनागढ़ के रूद्रादामन (150 ई0) का एक शिलालेख अंलकृत गद्य के रूप में प्राप्त होता है, जिसमें काव्यशास्त्र सम्बन्धी कई शब्द प्रयोग किये गये हैं।

"स्फुटलयमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य..... महाक्षात्रपेण रूद्रदाम्ना।" इत्यादि

भारतीय साहित्यशास्त्र के विकास में अन्य शास्त्रों जैसे व्याकरण, न्याय, मीमांसा, वेदान्त सांख्य आदि का भी यथेष्ट

योगदान रहा है। काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अपने मत की पुष्टि अथवा अन्य मतों का खण्डन करने के लिए इन शास्त्रों की मान्यताओं का उचित आदर करते हुए काव्य शास्त्र को पूर्ण किया।

उपर्युक्त विवेचन से सम्यक् ज्ञान होता है, कि सौन्दर्यान्वेषण के क्षेत्र में साहित्यशास्त्र का अलौकिक योगदान रहा, जो कि विश्व–सौन्दर्य दर्शन के विकास में प्रकाश स्तम्भ की भाँति शोभायमान है।

---

(1) किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।
—कालिदास अभि० शा० 1/20

(2) न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताऽननम्।
—भामह काव्यालंकार 1/13

(3) यच्च सध्यंग वृत्यंग लक्षणद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिंद चेष्टमलंकारतथैव नः।
—दण्डी काव्यादर्श 2/267

काव्य शास्त्र के पारम्परिक आचार्य

भरतमुनि

पूर्ववर्णित विवरण से जैसे स्पष्ट ही है कि भरतमुनि से पूर्व भी भारतीय साहित्यशास्त्र समृद्ध था, प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों के अभाव में भरतमुनि को ही अलंकार शास्त्र का सर्वप्रथम आचार्य माना जाता है। अतः काव्य शास्त्र के प्राचीन पारम्परिक आचार्यों का परिचय प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरतमुनि का परिचय देना अति आवश्यक है।

भरतमुनि का सामान्य परिचय :–

नाट्यशास्त्र के प्रणेता तथा काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरतमुनि के विषय में हम नितान्त अपरिचित है। प्राचीन इतिहास में हमें भरतनाम के पाँच प्रसिद्ध व्यक्तियों के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं।

1) दशरथपुत्र भरत।
2) दुष्यन्तपुत्र भरत।
3) जड भरत।
4) मान्धाता का प्रपौत्र भरत।
5) नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत।

इन व्यक्तित्वों में हमें नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत का निरूपण करना है। प्राचीन साहित्य में भरत का जिस रूप में वर्णन प्राप्त होता है, उस आधार पर कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों

ने भरत को एक काल्पनिक व्यक्ति सिद्ध किया है। क्योंकि भरतमुनि का सम्बन्ध मनुष्य लोक तथा देवलोक दोनों से वर्णित है। वह ब्रह्मा से नाट्य का उपदेश लेते है तथा अप्सराओं और अपने पुत्रों की मदद् से देवलोक में नाटक की प्रस्तुति करते है। इस तथ्य की पुष्टि कालिदास ने भी अपने "विक्रमोर्वशीयम्" नाटक में की है। डॉ० मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में भी भरत को काल्पनिक व्यक्ति माना है। इसे अनुसार प्राचीन काल में अभिनय करने वाले नटों को भरत कहा जाता था या भरत नाम की जाति विशेष हुआ करती थी, जिसका कार्य ही अभिनय करना था। इसी भरत जाति के अदि पुरूष के रूप में भरतमुनि की कल्पना कर ली गयी होगी।

परन्तु दूसरे आचार्य इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं। आचार्य विश्वेश्वर इत्यादि समालोचक विद्वान मानते हैं कि भरत नाम के अवश्य ही मुनि हुए है। भारतीय वाङ्मय, पुराणों, काव्यों तथा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत का नाट्यशास्त्र के रचियता रूप में उल्लेख हुआ है। नाट्यशास्त्र में भी भरत के 100 पुत्रों तथा अभिनय करने वाली अप्सराओं की विस्तृत नामावली अंकित है। भरतमुनि निःसंदेह एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, जिसे उत्तरकाल में पौराणिक कल्पनाओं से अनुस्यूत कर दिया गया। सम्भवतः इंन भरतमुनि में ही संस्कृत नाटकों की समाप्ति पर भरतवाक्य करने की परम्परा प्रचलित हुई। राजशेखर, अभिनवगुप्त, दामोदरगुप्त, शिंगभूपाल आदि काव्यशास्त्रीय आचार्य भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का रचियता स्वीकार करते हैं।

साहित्यशास्त्र में भरत का महत्व :–

भारतीय काव्यशास्त्र में भरतमुनि ही सबसे प्राचीन आचार्य है तथा उनके द्वारा रचित नाट्यशास्त्र ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना गया हैं, जिस नाट्यशास्त्र को आधार बनाकर उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की तथा अपने ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों को प्रमाण मानते हुए सम्मान के साथ उद्धृत किया। यद्यपि नाट्यशास्त्र मुख्य रूप से नाट्य की रचना, अभिनयादि से सम्बन्धित है। नाट्यशास्त्र में नाट्य के विभिन्न तत्वों का ही संर्वांगीण चित्रण हुआ है, तथापि साथ ही साथ नाट्यशास्त्र में काव्यशास्त्र के विभिन्न तत्वों जैसे रस, गुण, रीति, अलंकारादि का भी सांगोपांग विवेचन हुआ है। नाट्यशास्त्र के अभाव में नाट्य गाथा के महत्व का प्रमाण है।

नाट्यशास्त्र में ही सर्वप्रथम "विभावानुभावव्यभिचारिणसंयोगात् रसनिष्पत्तिः" सूत्र के द्वारा भरतमुनि ने काव्य का प्रमुख तत्व रस को माना। इस रससूत्र की व्याख्या करने में कितनी ही नवीन विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ। काव्य के विभिन्न तत्वों का निरूपण करके भरत ने ही सर्वप्रथम आलोचना पद्धति को नियमित रूप प्रदान किया। नाट्यशास्त्र में काव्य के दृश्य तथा श्रव्य दोनों ही भेदों के तत्वों का विवेचन तथा व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र की आलोचना के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाला प्रथम तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ है, जिसके महत्व को न केवल भारतीयों वरन् पाश्चात्य विद्धानों ने भी सराहा है। डॉ० स्कॉट जेम्स ने अपने "दी मैकिंग ऑफ दी लिटरेचर" नामक ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र की तुलना "अरिस्टोटल के पेरिपोएटिक्स" से की तथा पेरिपोक्टिस की तुलना में नाट्यशास्त्र की भूरि–भूरि

प्रशंसा की है।

वास्तव में नाट्यशास्त्र संस्कृत के आलोचनात्मक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाला प्रथम तथा सर्वांगपूर्ण ग्रन्थरत्न हैं।

नाट्यशास्त्र को आचार्य भरत ने 36 अध्यायों में उपनिबद्ध किया है, जिनमें कि काव्य के विभिन्न तत्वों तथा नाट्य की उत्पत्ति से प्रारम्भ करके नाट्य मण्डपों के भेद, प्रेक्षागृहों की निर्मिति, रंगदेवताओं की पूजा, नाट्य करने के अभिनय, छन्द, हाव–भाव, वाद्य, ताल, लय, नायक–नायिका तथा नाट्यभूमि, विविध पात्रों की भूमिकाओं आदि का सुविस्तृत तथा सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में समयानुसार अनेकों टीकाएं लिखी जाती रही हैं, जिनमें अभिनवगुप्त की "अभिनव भारती टीका" का प्रमुख स्थान रहा है। इसके अतिरिक्त भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा उद्भट आदि विद्वानों ने भी नाट्यशास्त्र को बोधगम्य बनाने में अपना विशेष महत्व प्रदान किया है।

मेधावी अथवा मेधाविन् अथवा मेधाविरूद:

प्राचीन साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में मेधावी का उल्लेख भरतमुनि के पश्चात् तथा भामह से पूर्व अर्थात 400 ई० से 450 ई० पर्यन्त किया गया है। मेधावी द्वारा रचित कोई भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। तथापि भामह, दण्डी, वामन, राजशेखर, नमिसाधु आदि काव्यशास्त्रीय विद्वानों के ग्रन्थों में मेधावी का उल्लेख प्राप्त होता है तथा यह ज्ञात होता है कि मेधाविन् नामक किन्हीं आचार्य ने कभी अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी,

जो समय के साथ विलुप्त हो गया।

रूद्रट के काव्यालंकार नामक ग्रन्थ की टीका में नमिसाधु ने नेधावी का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया हैं नमिसाधु की टीका 1/2 पर

"दण्डि मेधाविरूद्र–भामहादि कृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि"।।

रूद्रट के काव्यालंकार की व्याख्या में नमिसाधु ने पुनः मेधाविन् द्वारा निर्देश किये गये उपमा के सात दोषों का उल्लेख किया है।[1]

प्रस्तुत उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि मेधावी नामक अलंकार शास्त्र के आचार्य अवश्य रहे होंगे जिनके मत तथा विचार उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

महर्षि व्यास
(अग्नि पुराण)

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद व्यास ने ही 18 पुराणों की रचना की थी। यद्यपि आधुनिक आलोचक उपर्यक्त तथ्य से सहमत नहीं है। उनका मानना है कि महर्षि व्यास ने पुराणों की रचना नहीं की, वरन् संकलन और सम्पादन किया था। तथापि चूंकि अग्निपुराण का कोई भी अन्य लेखक ज्ञात नहीं हैं, इसलिए महर्षि वेदव्यास ही अग्निपुराण के रचियता माने जाते हैं।

(1) अत्र च स्वरूपपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणात् यन्मेधाविप्रभृतिरूकतं यथा लिंगव्रचन भेदौहीनताधिक्यम् सम्यकताविपर्ययः सादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः इति।

—काव्यालंकार 11/24 पर नमिसाधु की व्याख्या

अग्नि पुराण का महत्व :–

समस्त 18 पुराणों मे अग्नि पुराण का अपना विशेष महत्व है, क्योंकि इसमें तत्कालिक लगभग समस्त विद्याओं का संकलन किया गया है। अग्नि पुराण में व्याकरण से लेकर औषधि विज्ञान, काव्यशास्त्र, कोष, ज्योतिष, काव्य के श्रव्य तथा दृश्य दोनों भेदों का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है।

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने अग्निपुराण में उपलब्ध सामग्री को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि इसमें तत्कालीन सभी विषयों से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध होती है। इसलिए विद्वानों ने अग्निपुराण को पौराणिक विश्वकोष कहा है।[1 2]

अग्नि पुराण के 11 अध्यायों, 337 से 347 तक के अध्यायों के 362 श्लोकों में काव्यशास्त्र से सम्बन्धित विषयों का विवेचन किया गया है। जिसका अध्याय क्रम से विवेचन डॉ० कृष्ण कुमार के "अलंकारशास्त्र का इतिहास" नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है।[3]

अध्याय 337:–

प्रस्तुत अध्याय में पहले काव्य का महत्व, लक्षण, गद्य काव्य के भेद–उपभेदों का निरूपण, पद्य काव्य के भेदों का उल्लेख मात्र करके महाकाव्य के स्वरूप का विस्तृत विवेचन, काव्यभेदों का संक्षेप में स्वरूप बतलाया गया है।

(338) इस अध्याय में नाट्य सम्बन्धी विषयों को बताया है यथा–रूपकों के दस भेद तथा उपरूपको का कथन, नाटकीय सामग्री–प्रस्तावना, पञ्च अर्थ प्रकृतियां, पञ्च सन्धियाँ, आदि का उल्लेख तदन्तर श्रेष्ठ नाटक के गुण तथा नाटक में अपेक्षित

देशकाल पर विचार किया गया है।

(339) यह रस से सम्बन्धित अध्याय है, जिसके रस, स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव, आलम्बन, उद्दीपन विभाव, नायक–नायिका के भेदों तथा गुणों का वर्णन है।

(340) यह रीति तथा वृत्ति से सम्बन्धित अध्याय है, इसमें पांचाली, गौडी, लाटी, वैदर्भी रीतियों का विवेचन, भारती, सात्तवती, कौशिकी तथा आरभटी वृत्तियों का सम्यक् निरूपण किया गया है।

(341) नायिकाओं की चेष्टाओं तथा उनके हाव–भाव का वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। जिसमें नृत्यकला में प्रयोग किये जाने वाले अंगो–हाथ, पैर, आंखों आदि के संचालन की विधि बतायी गयी है।

(342) इस अध्याय में अभिनय के चारों अंगों–सात्विक, वाचिक, आंगिक, आहार्य का वर्णन श्रृंगार आदि रसों के लक्षण तथा भेद, अलंकारों के लक्षण तथा भेद, शब्दालंकारों का सक्षिप्त विवेचन किया गया है।

(343) शब्दालंकार से सम्बन्धित अध्याय है, जिसमें अनुप्रास–यमक भेद सहित, चित्रकाव्य के सात भेद प्रहेलिका के 16 भेदों, गोमूत्रिकादि अलंकारों का निरूपण किया गया है।

(344) अर्थालंकार का विवेचन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

(345) इस अध्याय का विषय शब्दालंकार है। ये अलंकार छः बताये गये हैं। प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य संक्षेप, यावदर्थता तथा

(1) डॉ० बलदेव उपाध्याय – संस्कृत साहित्य का इतिहास – पृ० 51

(2) डॉ० कृष्ण कुमार – अलंकारशास्त्र का इतिहास – पृ० 60

(3) डॉ० कृष्ण कुमार – अलंकारशास्त्र का इतिहास – पृ० 65/66

अभिव्यक्ति इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अलंकारों का विवेचन करके यह प्रतिपादित किया गया है कि ध्वनि नामक तत्व का समावेश इन्हीं अलंकारों के अन्तर्गत हो जाता है।

(346) यह काव्य शास्त्रीय गुणों से सम्बन्धित अध्याय है, इसमें गुण की परिभाषा, भेद, महत्व का विवेचन किया गया है। यहाँ गुणों के तीन भेद किये गये है।

1) शब्द गुण 2) अर्थ गुण 3) शब्दार्थ गुण

शब्द गुण के 7 भेद है – श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य तथा यौगिकी।

छः अर्थगुण – माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता प्रौढ़ि तथा सामायिकत्व।

छः उभयगुण – प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्ति, पाक तथा राग।[1]

(अध्याय 347) प्रस्तुत अध्याय में दोषों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार अग्निपुराण में अन्य समस्त विषयों के साथ साथ काव्यशास्त्रीय तत्वों का भी सर्वांगिक विवेचन किया गया है।

(1) डॉ० राजवंश सहाय "हीरा"
–अलंकारशास्त्र की परम्परा–पृ० 115
(2) ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर
– 1–विन्टरनिट्स – पृ० 566
(3) अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।
काव्यालंकार 6/64
(4) प्रणम्य सार्वसर्वज्ञं मनोवाक्कायकमभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्येव। काव्यालंकार 1/1

इसलिए इसे संस्कृत का पौराणिक विश्वकोष माना गया है।[2]

भामह

सामान्य परिचय :–

भामह के निजी जीवन के विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध होती है। पर किंवदन्तियों के अनुसार भामह कश्मीर के निवासी थे। इन्हीं की एकमात्र रचना "काव्यालंकार" में इनके पिता का नाम "रक्रिल गोमिन" उल्लिखित हुआ है।[3] "गोमिन्" इस पद का बौद्ध साहित्य में प्रचुर प्रयोग होने के कारण तथा "काव्यालंकार" का प्रारम्भ "सार्वसर्वज्ञ"[4] की स्तुति से होने के कारण कतिमय विद्वान भामह को बौद्ध धर्म का अनुयायी मानते है, क्योंकि सार्व पद की व्युत्पत्ति "सर्वेभ्योहितः" तथा सर्वज्ञ का अर्थ है – बुद्ध। इस प्रकार सर्वहितकारी बुद्ध की स्तुति करने के कारण भामह को बौद्ध मतालम्बी माना।

किन्तु भामह की रचना में कहीं भी बौद्ध ग्रन्थों का संकेत न पाकर तथा वैदिक देवताओं, पौराणिक कथाओ, रामायण, महाभारत की घटनाओं का प्राचुर्य देखकर अधिकाँश समालोचकों ने भामह के बौद्ध होने का खण्डन किया है।

भामह का समय :–

भामह के समय के विषय में विद्वानों में एकमत्य नहीं है, तथापि आज भी विद्वान भामह को दिङ्नाग से परवर्ती तथा दण्डी तथा धर्मकीर्ति से पूर्ववर्ती मानते है। काव्यांलकार के पाँचवे परिच्छेद पर जिसमें न्याय सिद्धान्त की व्याख्या की गयी

है, दिङ्नाग का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। दिङ्नाग का समय लगभग 400 ई० है। अतः भामह को 400 ई० के बाद का मान सकते है। धर्मकीर्ति का समय 620 ई० लगभग है तथा भामह धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती होने से भामह का काल निर्धारण हम 400 ई०, से 620 ई० में मध्य मान सकते हैं।

भामह का काव्यालंकार :–

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यालंकार, अलंकारशास्त्र का ऐसा प्रथम ग्रन्थ माना गया है। जिसमें सर्वप्रथम स्वतन्त्र रूप से केवल काव्यांगों की ही व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। भामह की एकमात्र उपलब्ध कृति काव्यालंकार ही उनका कीर्तिस्तम्भ है। जिससे न केवल प्राचीन वरन् आधुनिक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान भी प्रभावित हुए तथा काव्यालंकार से अपने ग्रन्थों के लिए विषय वस्तु ग्रहण की। भामह ने ही सर्वप्रथम काव्य का स्वरूप निर्धारण किया।[1] इसी प्रकार जहाँ काव्यालंकार के पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने गुणों की संख्या दस मानी है, वहीं सर्वप्रथम भामह ने गुणों की संख्या मात्र तीन माधुर्य, ओज तथा प्रसाद प्रतिपादित की है। उत्तरवर्ती आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ आदि ने भी अपने–अपने ग्रन्थों में भामह के इस मत को स्वीकार किया है। इसी तरह जहाँ भरतमुनि अलंकारों की संख्या केवल चार बताते है, वहीं भामह ने अनेक नवीन अलंकारों की उद्भावना करके उनकी विशद व्याख्या प्रस्तुत की। वक्रोति को अलंकार तथा काव्य का अनिवार्य तत्व मानते हुए भामह ने वक्रोति का महत्व प्रतिपादित किया है।[2] आगे चलकर उसी वक्रोति को काव्य का प्राणतत्व मानते हुए कुन्तक ने पृथक् काव्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

दण्डी

(सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध)

दण्डी का जीवनवृत्त :–

दण्डी के पिता का नाम वीरथ तथा माता का नाम गौरी था। दण्डी के माता–पिता उनकी बाल्यावस्था में ही स्वर्गवासी हो गये थे। उस समय काञ्ची में जो महान् विनाश लीला हुयी, उससे ग्रस्त होकर दण्डी काञ्ची छोड़कर अन्यत्र चले गये। वर्षों अनेकानेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए ही दण्डी ने अपना विद्याध्ययन किया। युवावस्था को प्राप्त होने पर दण्डी स्वतः ही काञ्ची वापिस लौट आये, जहाँ आकर उन्होंने अपने मित्रों को विद्याधर नरेश राजवाहन की कथा सुनायी। राजा राजवाहन की यही कथा बाद में "अवन्ति सुन्दरी" कथा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

दण्डी का काल :–

संस्कृत साहित्य के प्राचीन कवियों तथा लेखकों की भाँति दण्डी ने भी अपनी कृतियों में अपने समय के विषय में कुछ नहीं लिखा है। इसलिए दण्डी का काल का निर्णय भी पूर्व, अपर अथवा बाह्य प्रमाणों द्वारा ही करना पड़ता है।

दण्डी के उत्तरवर्ती आचार्यों ने दण्डी तथा उनकी कृतियों को अत्यधिक मात्रा में उद्धृत किया है, जिसके आधार पर दण्डी के काल निर्णय का प्रयास किया गया है।

---

(1) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् – भामह – काव्यालंकार 1/16

(2) हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।। – भामह – काव्यालंकार 2/86

दण्डी की रचनाएं :–

राजशेखर ने दण्डी की तीन रचनाएं मानी है। जिनमें काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित तो निःसंदेह दण्डी की ही रचनाएं है। परन्तु दण्डी की तीसरी रचना कौन सी है? इस सम्बन्ध में विद्वान समालोचकों में बहुत अधिक विचार वैमनस्य है अर्थात् दण्डी की तृतीय रचना के लिए विद्वानों में विवाद रहा है। कतिपय विद्वान "अवन्तिसुन्दरी कथा" को दण्डी की कृति मानते हैं, तो कुछ समालोचक इस पर आपत्ति करते है, कि अवन्तिसुन्दरी कथा दण्डी की रचना नहीं है।

दण्डी की तृतीय रचना सम्बन्धी प्रश्न के समाधान स्वरूप पिशेल "मृच्छकटिक" को तथा जैकोबी तथा पीटर्सन "छन्दोविचित" को दण्डी की रचना मानते है, क्योंकि दण्डी ने काव्यादर्श में इन रचनाओं या उनके अन्तर्गत आने वाले श्लोक का उल्लेख किया है।[1] कुछ समालोचक "कलापरिच्छेद" को दण्डी की रचना मानते है। पी०वी० काणे का कथन है कि कला परिच्छेद स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर काव्यादर्श का ही एक भाग था।[2]

प्रस्तुत विवादों के उपस्थित होने पर भी अधिकांश विद्वान समालोचक "अवन्तिसुन्दरी" कथा को ही दण्डी की तृतीय रचना

---

(1) छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रबन्धो निदर्शित।
सा विद्या नौर्विवक्षूणां गम्भीर काव्यसागरम्।।
–काव्यदर्श 1/121

(2) पी०वी० काणे– संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० 116

(3) डॉ० राघवन – जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च मद्रास भाग 5 खण्ड 2 पृष्ठ 4

स्वीकार करते है। अप्पय दीक्षित ने अपनी कृति में उद्धत किया है–

निरस्ता पल्लवेषु काञ्ची नाम नगरीत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डी प्रयोगात्।[3]

इस वाक्य से अवन्तिसुन्दरी कथा दण्डी कृत सिद्ध हो जाती है। राजशेखर ने भी दण्डी की काव्यादर्श, दश कुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा ये तीन रचनाएँ स्वीकार की है। काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में ही दण्डी ने गुणों का विशद विवेचन किया है। यद्यपि दण्डी अलंकारवादी आचार्य है, तथा वह अलंकार को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं तथापि गुणों को उन्होंने काव्य का आवश्यक अंग माना है, क्योंकि दण्डी गुणों को भी अलंकार रूप ही मानते हैं। इसलिए दण्डी ने स्वरचनाओं में भी गुणों का प्रयोग किया है।

अलंकार शास्त्रीय आचार्यों में उद्‌भट का महत्वपूर्ण तथा आदरणीय स्थान है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उद्‌भट तथा उनके मतों का बड़े आदरपूर्वक उल्लेख किया है। उनके विरोधी आचार्यों ने भी उनके ग्रन्थों "भामह विवरण" तथा "अलंकारसारसंग्रह" का सम्मान प्रदान किया। उद्‌भट के ग्रन्थ इतने प्रसिद्ध हुए कि भामह का मूल ग्रन्थ "काव्यालंकार" बहुत समय तक प्रकाश में आया ही नहीं।

उद्‌भट की तीन कृतियों का पता चलता है।। जिनमें–

(1) डॉ० कृष्णकुमार– अंलकारशास्त्र का इतिहास पृ० 106
(2) काव्यानुशासन टीका– निर्णय सागर प्रेस पृ० 1/1/110
(3) अंलकारसर्वस्व – निर्णय सागर प्रेस पृ० 183
(4) ध्वन्यालोक लोचनटीका – निर्णय सागर प्रेस पृ० 40

1) अलकारसार संग्रह :–

कवि का काव्यशास्त्र पर लिखा गया स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं जिसका कर्नल जेकब ने अंग्रेजी अनुवाद किया, जो ''रायल एशियाटिक सौसाइटी के जर्नल'' में पृ० 829–847 तक प्रकाशित हुआ।[1] इसके बाद अनेक भारतीय विद्वानों ने भी ''अलंकार सारसंग्रह'' का प्रकाशन किया। यह ग्रन्थ छः वर्गों में विभक्त था। जिसमें 79 कारिकाएं थी, चूंकि उद्भट अलंकारवादी आचार्य है। अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ में 41 अलंकारों की सोदाहरण विस्तृत विवेचन किया। उद्भट भामह से अतिप्रभावित थे, अतः उनकी रचनाओं पर भामह का प्रभाव तो परिलक्षित होता है।

किन्तु कहीं भी उन्होंने भामह का सर्वथा अनुकरण नहीं किया, कहीं उन्होंने भामह के द्वारा कहे अलंकारों का उसी रूप में समान लक्षणों से शब्दतः ग्रहण किया, तो कहीं भामह द्वारा बताये अलंकारों को छोड़कर नवीन अलंकारों की उद्भावना की है तथा कहीं–कहीं पर तो अलंकारों के भेदों में भामह तथा उद्भट में पर्याप्त विरोध तथा मतभेद परिलक्षित होता है।

उद्भट द्वारा लिखित ''भामहविवरण'' नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में उद्भट्ट द्वारा भामह के काव्यालंकार ग्रन्थ पर टीका लिखने के साक्ष्य अनेक स्थानों पर उपलब्ध है। जैसे हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में उद्भट कृत भामह विवरण के बारे में अनेक बार लिखा है।[2]

इसी प्रकार रूय्यक ने अलंकारसर्वस्व[3] तथा अभिनवगुप्त ने लोचनटीका[4] में भामह विवरण का उद्भट कृत होने की पुष्टि की है।

उद्भट्ट के ''कुमारसम्भव'' ग्रन्थ पर कालिदास के ''कुमारसंभव'' की स्पष्ट छाप है। पी०वी० काणे महोदय लिखते

है – दोनों रचनाओं में बहुत अधिक समानता है। यह समानता केवल शब्दों तथा भावों में ही नहीं, वरन् घटनाओं में भी है।[1] इसके अतिरिक्त उद्भट्ट ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर भी टीका लिखी है।

उद्भट्ट अलंकारवादी आचार्य थे। इसलिए उनके ग्रन्थों में अलंकारों को ही प्राथमिकता मिली है, फिर भी उन्होंन काव्य के अतिआवश्यक अंगो रस तथा गुण पर भी प्रकाश डाला हैं उद्भट्ट गुणों को संघटना का धर्म मानते थे।[2] जिसे बाद में रस का धर्म प्रतिपादित किया गया, इस प्रकार काव्यशास्त्र के समस्त आचार्यों ने काव्य की आत्मा किसी भी तत्व को माना हो, लेकिन गुणों को काव्य के अनिवार्य तथा आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है।

वामन

रीति सम्प्रदाय के संस्थापक वामन का संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। वामन का महत्व इसलिए और भी अधिक हो जाता है, क्योंकि वामन ने सिर्फ काव्य के एक या एक से अधिक अंगों पर ही विचार नहीं किया, बल्कि काव्य के समस्त तत्वों का विशद विवेचन अपने ग्रन्थ ''काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'' में

(1) पी० वी० काणे – संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० 137

(2) संघटनाया धर्मो गुणा इति भट्टोदभटादयः–
अभिनव गुप्त–ध्वन्यालोक–लोचनटीका पृ० 134

(3) प्रणम्य परमं ज्योतिवार्मनेन कविप्रिया।
काव्यांलकारसूत्राणां स्वेषा वृत्तिर्विधीयते।।
काव्यालंकारसूत्राणि–1/1 मंगलश्लोक।।

किया है। वामन का एकमात्र ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ही उपलब्ध होता है। अलंकारशास्त्र में वामन ही एकमात्र ऐसे आचार्य हुए है, जिन्होंने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को सूत्रों के रूप में लिखा है। इन सूत्रों पर वामन ने स्वयं वृत्ति तथा वृत्ति में उदाहरणों को निवेशित किया। जैसे वामन ने अपने ग्रन्थ में स्वयं ही उल्लखित किया है।[3]

वामन का काव्यालंकारसूत्रवृत्ति बहुत विस्तृत और व्यापक है। जिसमें काव्य के समस्त अंगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभाजित है। अधिकरण 12 अध्यायों में विभक्त है। ग्रन्थ में 319 सूत्र है। 250 श्लोक या श्लोकार्ध ही उदाहरण के रूप में दिये गये हैं।

वामन ने काव्यलंकारसूत्रवृत्ति के तृतीय अधिकरण में गुण तत्व का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत शब्दगुणों का विवेचन तथा द्वितीय अध्याय में 10 अर्थ गुणों का स्वरूप विवेचन उदाहरण सहित किया गया है। वामन के ग्रन्थ में अनेक प्राचीन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का उल्लेख किया गया है। वामन के

ग्रन्थ का महत्व असन्दिग्ध है। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने वामन तथा उनके सिद्धान्तों की कटु आलोचना की तथापि काव्यलंकारसूत्रवृत्ति का महत्व कहीं भी कम नहीं हुआ है। प्राचीनकाल से ही इस पर टीका लिखी जाती रही है, जिसमें सहदेव की टीका सर्वाधिक विख्यात हुई।

वामन ने विशेष सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके पूर्वप्रचलित

धारणाओं को नया रूप प्रदान किया। इस कारण वामन का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। जैसे – वामन का सिद्धान्त है –"रीति ही काव्य की आत्मा है" विशेष प्रकार की पदरचना रीति है तथा पदरचना की विशिष्टता गुणों में ही निहित है।[1]

वामन के गुणों का विशेष रूप से वर्णन किया, उन्होंने 10 शब्द तथा 10 अर्थ इस प्रकार गुणों के 20 भेद किये। वामन ने काव्य में शोभा के आधायक धर्मों के रूप में गुणों को ही मान्यता दी है। वामन ने रसों को कोई विशेष महत्व प्रदान नहीं किया, उन्होंने समस्त रसों की समन्विति कान्ति नामक अर्थगुण के अन्तर्गत ही कर ली थी।[2]

रूद्रट

रूद्रट अलंकारवादी आचार्य है। इन्होंने अलंकारों को ही काव्य का आत्मतत्व स्वीकार किया है। उन्होंने "काव्यलंकारसूत्र" नामक ग्रन्थ में अलंकारों का वैज्ञानिक दृष्टि से वर्गीकरण किया तथा अनेक नवीन अलंकारों की संकल्पना भी की है। आचार्य रूद्रट अलंकारवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों के बीच में कड़ी की तरह कार्य करते रहे। रूद्रट का एकमात्र काव्यालंकार ही प्राप्त

(1) रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः।
विशेष – गुणात्मा।
–काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1, 2, 6, 8

(2) दीप्ता रसा श्रृंगारादयोयस्य स दीप्तरसः।
तस्य भावो दीप्तासत्वं कान्ति।
–काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 3, 2, 15

होता है। रूद्रट ने इस ग्रन्थ को 16 अध्यायों में विभक्त किया है जो आर्या छन्द में लिखे गये है। रूद्रट ने द्वितीय अध्याय में सुन्दर वाक्य के जो लक्षण दिये है, उन्हें नमिसाधु ने अपनी टीका में वाक्यगुण कहा हैं। मुख्य रूप से रूद्रट का प्रतिपाद्य विषय अलंकार ही रहा है, तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थ में रीति, दोष, काव्य के लक्षण, प्रयोजन, हेतु रस तथा प्रबन्ध काव्य के प्रायः सभी अंगों को व्याख्यायित किया गया है, किन्तु उन्होंने काव्यगुणों की परिभाषिक अर्थ में विवेचना नहीं की, जबकि रीति को महत्व न देते हुए भी उन्होंने रीति को अपना विवेच्य विषय बनाया है।

नमिसाधु ने सुन्दर वाक्य को वाक्य गुण नाम से सन्दर्भित किया है ये छ गुण है।

(1) अन्यूनाधिकावाचकत्व – न्यूनपदता एवं अधिकपदता काव्यशास्त्र में दोष माने गये हैं यह वाक्यगुण उक्त दोनों दोषों का विपर्यय रूप ही है। विवक्षित अर्थ बोध के लिए आवश्यक शब्दों का प्रयोग अन्यूनाधिकवाचकत्व नामक गुण है।

(2) सुक्रमत्व (3) पुष्टार्थत्व (4) चारूपदत्व (5) क्षोदक्षमत्व (6) अक्षुझण्णत्व वास्तव में रूद्रट ने सुन्दर वाक्य की जिन विशेषताओं का निरूपण किया है वह दोषों का विपर्यय रूप ही है। रूद्रट ने प्रायः रचना की चारूता पर विशेष बल दिया है। वाक्य में पदों का चारूत्वपूर्ण सन्निवेश होने पर काव्य में सभी गुण आ जाते हैं।

आनन्दवर्धन

"ध्वन्यालोक" की रचना करके तथा ध्वनि सिद्धान्त की उद्‌भावना करके आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अजर–अमर तथा महनीय स्थान प्राप्त किया है। जहाँ पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों ने काव्य के बाह्य तथा स्थूल शब्द–अर्थ रूप शरीर को सजाने में ही काव्यत्व समझा, वहीं आनन्दवर्धन ने बताया कि काव्य में सहृदय श्लाध्य अर्थ दो है।

वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ।[1]

इसमें प्रतीयमान अर्थ को ही ध्वन्यालोककार ने श्रेष्ठ माना और काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया।[2]

आनन्दवर्धन के उत्तरवर्ती आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ इत्यादि ने भी उनके मत का समर्थन तथा पोषण किया। व्याकरण तथा वेदान्त में क्रमशः जो स्थान पाणिनि तथा शंकराचार्य को मिला काव्यशास्त्र में वही स्थान ध्वन्यालोककार को प्राप्त है।

काव्य में ध्वनि को आत्मा के रूप में प्रतिपादित करके भी आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्य तत्वों जैसे गुण, रीति अलंकार का भी अपने ग्रन्थ में यथोचित विवेचन किया है।

---

1) योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीतयमानायखौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।
– ध्वन्यालोक 1/2

(2) यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जानीकृतस्वार्थो
व्यक्तः काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरभिः कथितः।।
–ध्वन्यालोक 1, 13

आन्नदवर्धन की कृतिः–

यद्यपि आनन्दवर्धन की प्रतिष्ठा स्थापित करने वाली तथा सबसे प्रसिद्ध कृति "ध्वन्यालोक" है। तथापि इनके तीन काव्य – देवीशतक, विषमबाणलीला तथा अर्जुनचरित। दो दर्शन ग्रन्थ – तत्त्वालोक तथा बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति की कृति "प्रमाण विनिश्चय पर "प्रमाणविनिश्चयटीका", पर टीका प्राप्त होती है। आनन्दवर्धन की अधिकांश रचनाएं जैसे देवी शतक, विषमबाणलीला, अर्जुनचरित, तत्त्वालोक इत्यादि उपलब्ध नहीं है। इन सभी रचनाओं के श्लोक उदाहरण स्वरूप ध्वन्यालोक में प्राप्त होते हैं।

अतः एकमात्र ध्वन्यालोक ही कवि का कीर्तिस्तम्भ है, यह ग्रन्थ चार उद्योतों में विभक्त है।

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में रसध्वनि प्रकरण में ही आनन्दवर्धन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खण्डन करके गुणों की संख्या तीन निर्धारित की। उनके अनुसार गुण माधुर्य, ओज तथा प्रसाद भेद से तीन ही प्रकार के है। उन्होंने गुण तथा अलंकारों में भेद भी स्पष्ट किया है। ध्वन्यालोकाकर ने संघटना की व्यंजकता का अत्यन्त विस्तार से वर्णन तृतीय उद्योत में किया है, ये व्यंजकता तीन प्रकार की होती है। असमास, मध्यम समास तथा दीर्घ समास। ये संघटना गुणों का आश्रय लेकर ही रसादि की अभिव्यञ्जना करती है। अतः आन्नदवर्धन भी गुणों को काव्य का अनिवार्य तत्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि यदि काव्य में गुण नामक तत्व न हो तो कोई भी काव्य काव्यत्व से ही च्युत

हो जायेगा। इसलिए संस्कृत वाङ्मय के समस्त आचार्यों ने गुण तत्व को न केवल स्वीकार किया बल्कि काव्य में उसकी अनिवार्यता को प्रतिपादित किया।

भोजराज

महत्व :–

भोजराज एक प्रतापी राजा, कवियों तथा विद्वानों के आश्रयदाता ही नहीं थे अपितु महान कवि, प्रखर समालोचक तथा विविध विधाओं के ज्ञाता भी थे। साहित्यिक तथा वैज्ञानिक विषयों पर जितना विशाल साहित्य भोजराज ने लिखा, उतना विश्व के अन्यत्र किसी ने भी नहीं लिखा। उनके लिखे ग्रन्थों की संख्या 84 थी, जिनका उल्लेख "श्रृंगार प्रकाश" के अध्ययन में डॉ० राघवन ने किया है।[1]

भोजराज ने ज्योतिष, कोष, वास्तुविधा, काव्य, वेदान्त, व्याकरण, आयुर्वेद लगभग समस्त विषयों पर 84 ग्रन्थों की रचना की, तथापि अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में भोज की दो ही रचना उपलब्ध होती है।

1) सरस्वती कण्ठाभरण 2) श्रृंगारप्रकाश

सरस्वती कण्ठाभरण :–

भोजराज का प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त विशाल तथा विस्तृत है, इसमें काव्य के अनेक तत्वों का विशद विवेचन किया गया है।

(1) पी०वी० काणे – संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – पृ० 327

यह ग्रन्थ समन्वयात्मक अधिक है अर्थात् इसमें प्राचीन आचार्यों के मतों को संग्रहित करके समन्वय करने का प्रयास किया गया है। भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण का विभाजन 5 परिच्छेदों में किया है। भोजराज ने अपने ग्रन्थों में प्राचीन आचार्यों के मतों के साथ–साथ कई नवीन विचारधाराओं का भी समावेश किया है।

उदाहरणार्थ :–

भोज ने 24 शब्दगुण तथा 24 ही अर्थगुण इस प्रकार 48 गुण बताये है। रीतियां छः बतायी है तथा अलंकारों को तीन वर्गों शब्दांलकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार में विभाजित किया। भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण के प्रथम परिच्छेद में ही काव्य के लक्षण, प्रयोजन तथा दोषों के पश्चात् गुणों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

श्रृंगार प्रकाश :–

भोज के श्रृंगारप्रकाश पर यद्यपि कोई भी टीका उपलब्ध नहीं होती है, तथापि प्राचीन काल में ये ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय था श्रृंगारप्रकाश को भोज ने 36 प्रकाश अर्थात् अध्यायों में विभक्त किया। श्रृंगार प्रकाश के भी नवें अध्याय में भोजराज ने दोषों के त्याग तथा गुणों की ग्राह्यता तथा काव्य में अनिवार्यता के विषय में विवेचन किया है।

भोजराज ने रस के भी 10 भेद किये हैं, तथापि उन्होंने समस्त रसों का मूल श्रृंगार रस को ही माना है। रस तथा गुण को इतना महत्व देते हुए भी भोजराज ने गुण तथा रस को अलंकार माना हैं इस सम्बन्ध में भोज लिखते है कि –

"इत्युक्तं तत्र अलंकारसृष्टे" इतीयत्येव वक्तव्ये
नानालंकारग्रहणं
गणरसानामुपसंग्रहार्थम्।
तेषामपि काव्यशोभा करणत्वेअलकारत्वात्। यदाह–
"काव्यशोभाकरान् धर्मालंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्येन वक्ष्यति।।
काश्चिन् मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते।।"
"तत्र काव्यशोभाकरान्" इत्यनेने श्लेषोपमादिवद्
गुणरसतदाभसप्रशगादीनप्युगृह्यति।'

मम्मट

काव्यशास्त्र के आचार्यों में मम्मट को सबसे अधिक गौरव का स्थान प्राप्त है। उनका काव्य शास्त्र पर लिखा "काव्यप्रकाश" नामक ग्रन्थ अद्वितीय है। इसमें काव्य के समस्त तत्वों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। मम्मट ने भरत से लेकर उनके समय तक जितने भी आचार्य हुए उनके सिद्धान्तों तथा मतों का गहन अध्ययन किया तथा इन सभी सिद्धान्तों का समन्वय करके जो रूप काव्य प्रकाश में दिया, उसी का अनुकरण उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया।

मम्मट से पूर्व आलंकारिक आचार्यों ने काव्य के कुछ ही अंगों को स्पर्श किया अर्थात् भामह तथा दण्डी जैसे आचार्य लक्षण, प्रयोजन, तथा अलंकारों तक सीमित रहे, इन्होंने रस, ध्वनि की विवेचना

भोजराज – सरस्वतीकण्ठाभरण – काव्यमाला सीरीज नं० 14
पृ० 703

नहीं की। वामन रीति में ही उलझकर रह गये, तो रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्य अपने सिद्धान्तों की सिद्धि में लगे रहे तथा काव्य के अन्य तत्वों के साथ न्याय नहीं कर सके। इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में उनका कार्य अपूर्ण तथा अधूरा ही रहा।

आचार्य मम्मट ने प्राचीन आचार्यों की इस अपूर्णता को पूर्ण किया। प्राचीन ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके काव्यशास्त्र के आवश्यक सिद्धान्तों को समन्वित करके के साथ ही नवीन सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया। प्राचीन परम्परा से चले आ रहे काव्य के समस्त अंगों के लक्षण, प्रयोजन शब्दशक्ति, गुण दोष, रस, अलंकार की विशद विवेचना तो उन्होंने काव्यप्रकाश ग्रन्थ में की ही साथ ही ध्वनि सिद्धान्त को पुनः जीवित करने का महत्वपूर्ण कार्य भी किया। उन्होंने ध्वनि विरोधी आचार्यों की युक्तियों का प्रबल तथा दृढ़तापूर्वक खण्डन किया। मम्मट को ध्वनिप्रस्थापना परमाचार्या कहा जाता है। काव्यप्रकाश में ध्वनि का सिद्धान्त और अधिक व्यवस्थित तथा सुन्दर रूप में स्थिर हुआ अपने पूर्वकालिक आचार्यों की कमियों अथवा त्रुटियों को दूर करके मम्मट ने एक सारगर्भित महत्वपूर्ण तथा काव्य के सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ की रचना इस प्रकार से की, कि केवल अकेले काव्य प्रकाश के अध्ययन से ही सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का ज्ञान हो सकता है। अतः आलोचकों द्वारा काव्यप्रकाश को काव्यशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ तथा आचार्य मम्मट को बाग्देवतावतार से विभूषित किया गया।

---

(1) डॉ० कृष्णकुमार – अलंकारशास्त्र का इतिहास पृ० 189

मम्मट की रचनाएं :–

काव्य प्रकाश ही मम्मट का सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त मम्मट के नाम से एक अन्य ग्रन्थ शब्दव्यापारविचार भी प्रसिद्ध है, जो निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित हुयी थी। शब्दव्यापारविचार में अभिधा तथा लक्षणा का विस्तृत विवेचन मम्मट द्वारा किया गया है।

काव्यप्रकाश मम्मटचार्य ने 10 उल्लासों में विभक्त किया है। जिसमें 142 कारिकायें है तथा कारिकाओं को समझाने के लिए वृत्ति तथा विभिन्न काव्यों से 603 उदाहरण काव्यप्रकाश में संग्रहित किये गये है। काव्यप्रकाश में मम्मट ने काव्य के लगभग समस्त अंगों का ही विशेष विवेचन किया है। प्रथम उल्लास में काव्य के प्रयोजन, हेतु तथा लक्षण तथा काव्य के भेदों की परिभाषाएं दी गयी है। इसके पश्चात द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ उल्लास में काव्य के भेदों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। सप्तम अध्याय में मम्मट ने दोषों का तथा अष्टम उल्लास में काव्य गुणों की विशद विवेचना की है। प्रस्तुत उल्लास में पहले गुण तथा अलंकार की परिभाषा दी गयी है, तदन्तर उनका गुण तथा अलंकारों में अन्तर स्पष्ट किया गया है। मम्मट ने गुणों के भेद करते हुए गुणों की संख्या तीन ही मानी है।

1) माधुर्य 2) ओज 3) प्रसाद

मम्मट वामनादि आचार्यों के शब्दगुणों को इन्ही तीन गुणों में ही अन्तर्निहित मानते है तथा अर्थगुणों के विषय में कहते है कि अर्थगुण होते ही नहीं है। अर्थगुण वामनआदि आचार्यो की कल्पना मात्र ही है। फिर मम्मट गुणों के व्यञ्जक, वर्ण, समास आदि का

विशेष वर्णन करते है। नवम् तथा दशम उल्लास में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विस्तृत विवेचन दिया गया है। इस प्रकार मम्मटाचार्य ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में काव्यांगों का मार्मिक तथा विस्तारपूर्वक विवेचन तथा निरूपण किया है।

वाग्भट्ट द्वितीय

वाग्भट्ट नामक आचार्य का "काव्यानुशासन" नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह काव्यानुशासन हेमचन्द्र की रचना काव्यानुशासन से भिन्न ही है तथा वाग्भट्ट भी "वाग्भटालंकार" की रचना करने वाले वाग्भभट्ट से भिन्न तथा परवर्ती थे, अतः इन्हें वाग्भट्ट द्वितीय कहा जाता है। काव्यानुशासन के अतिरिक्त वाग्भट्ट द्वितीय के "ऋषभदेवचरित" तथा "छन्दोऽनुशासन" नाम के दो अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है, मगर ये आज उपलब्ध नहीं है।

काव्यानुशासन में अपने से पूर्ववर्ती वाग्भट्ट का उल्लेख करते हुए उल्होंने लिखा है कि – वे काव्य ने 10 गुणों को प्रतिपादित करते थे, परन्तु काव्य में वस्तुतः तीन ही गुण होते है।[1]

वाग्भट्ट ने स्वयं अपने काव्यानुशासन के सूत्रों पर "अलंकारतिलक" नाम से वृत्ति भी लिखी थी तथा भिन्न काव्य ग्रन्थों से उदाहरण लेकर उसकी व्याख्या भी की है। काव्यानुशासन ग्रन्थ के पाँच अध्याय है। जिसके द्वितीय अध्याय में दोषों तथा गुणों का विवेचन किया गया है। वाग्भट्ट के अनुसार गुणों की

(1) दण्डीवामनवाग्भटादिप्रणीताः दशकाव्यगुणाः परन्तु माधुर्योजः प्रसादलक्षान् त्रीनेव गुणान् मन्यामेह।

—काव्यानुशासनवृत्ति पृ० 31

संख्या तीन है – माधुर्य, ओज तथा प्रसाद।

काव्यनुशासन में वाग्भट्ट ने काव्य के सभी तत्वों का विशद विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत तथा विवेचना का संग्रह अधिक किया है तथा मौलिकता कम है।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। हेमचन्द्र ने अनेक विषयों पर पाण्डित्य पूर्व ग्रन्थ लिखे है। जिनकी सूची डॉ० आफ्रेक्ट ने "कैटेलॉग्स कैटे गॉरय" में दी है।

उनके समस्त (लगभग 25) उल्लिखित ग्रन्थों में काव्यानुशासन ही काव्याशास्त्र पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें आठ अध्याय है तथा प्रत्येक अध्याय के तीन भाग कारिका वृत्ति तथा उदाहरण हैं। काव्यानुशासन में मौलिकता का अभाव है। तथा इसमें भी प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का समन्वयात्मक संकलन किया गया है।

काव्यनुशासन के कारिका भाग को काव्यानुशासन वृत्ति तथा उदाहरण को अलंकार चूड़ामणि नाम से सम्बोधित किया गया है। हेमचन्द्र ने इस पर स्वय ही विवेकटीका नाम से टीका लिखी है।

काव्यानुशासन में हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम काव्यतत्वों गुण, अलंकार, दोष, रस, शब्दशक्ति, प्रयोजन हेतु इत्यादि के लक्षण दिये है, तथा फिर अन्य अध्यायों में क्रमशः उनका विस्तृत विवेचन किया हैं। काव्यानुशासन के चौथे अध्याय में हेमचन्द्र के गुणों का विवेचन किया है, जिसमें गुणों के तीन भेद माधुर्य, ओज तथा प्रसाद के स्वरूप, लक्षण तथा इनके व्यञ्जक तत्वों का निरूपण तथा विवेचन किया है।

जयदेव

जयदेव का "चन्द्रालोक" नामक ग्रन्थ अत्यन्त सरल शैली में रचित किया है। जिसमें काव्यशास्त्र के समस्त अंगों का विवेचन किया है। राजा जसवन्त सिंह जी ने इसका हिन्दी रूपान्तरण "भाषाभूषण" नाम से किया हैं। चन्द्रालोक के अतिरिक्त "अनर्घराघव" नाम का नाटक तथा न्याय–ग्रन्थ "भाष्यालोक" को भी समालोचक इन्हीं की रचना मानते हैं।

चन्द्रालोक अपनी सरलता के कारण अत्यन्त लोकप्रिय रहा। अप्पय दीक्षित ने इस ग्रन्थ के पंचम मयूख के अर्थालंकार प्रकरण को आधार बनाकर अपने ग्रन्थ की रचना की। चन्द्रालोक को जयदेव ने 10 मयूख में विभाजित किया हैं जिसमें कुल 350 श्लोक हैं जो अनुष्टुप छन्द में है। चन्द्रालोक में जयदेव ने समस्त कांव्यांगों का विशद विवेचन किया है।

चन्द्रालोक के चतुर्थ मयूख में जयदेव ने गुणों की विवेचना की है। इस प्रकरण में जयदेव ने वामन, दण्डी आदि आचार्यों का अनुकरण करते हुए काव्य गुणों की संख्या आठ मानी है। उनके अनुसार श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य तथा उदारता ये आठ ही गुण है तथा अन्य गुणों का इन्हीं आठ काव्य गुणों में समावेश हो जाता हैं चन्द्रालोक की सुबोध शैली के कारण ही अप्पय दीक्षित ने अपने ग्रन्थ कुवलयानन्द में इसे आध ार बनाया तथा चन्द्रालोक के ऋण को निःसंकोच स्वीकार किया।[1]

(1) चन्द्रालोको विजयंता शरदागमसम्भवः
हृद्याः कुवलयानन्दों यदप्रसादादभूदयम्।।
कुवलयानन्द – अप्पय दीक्षित

विश्वनाथ

(साहित्यदर्पण)

साहित्यदर्पण ने अपनी सरलता तथा बोधगम्यता के कारण अत्यन्त लोकप्रियता अर्जि की। इसकी एक विशेषता यह भी रही कि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में श्रव्य काव्य के साथ–साथ दृश्यकाव्य–रूपक, दशरूपक, नाटक इत्यादि के विषय में भी भेदों उपभेदों सहित विस्तृत विवरण दिया है, जो मम्मट आदि आचार्यों के ग्रन्थों में नहीं मिलती । प्राचीन आंलकारिक आचार्यों के मतो का अनुकरण करने के बावजूद विश्वनाथ के ग्रन्थ में सर्वत्र मौलिकता के दर्शन होते हैं। विश्वनाथ ने ध्वनिकार तथा मम्मट आदि के द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण का खण्डन करते हुए दृढ़तापूर्वक अपने लक्षण को सिद्ध किया। इसी प्रकार उन्होंने कई नवीन अलंकारों की भी उद्‌भावना की है। डॉ० सत्यव्रत सिंह का वक्तव्य है कि – ''काव्यप्रकाश'' की दुरूहता से लोग घबरा जाते हैं। परन्तु साहित्य दर्पण अपनी सुबोधता के कारण काव्य प्रेमी को भी आकृष्ट करता है।[1] कवि विश्वनाथ न केवल समालोवक आचार्य थे, बल्कि उन्होंने स्वयं भी प्रचुर मात्रा में काव्य सृजन किया। इनकी सबसे लोकप्रिय रचना तो साहित्यदर्पण ही रही, क्योंकि इनकी अन्य रचनाओं का साहित्य दर्पण के उद्धरणों से ही बोध होता है, अथवा उन रचनाओं का नामोल्लेख ही प्राप्त होता है। विश्वनाथ की अन्य रचनाएं उपलब्ध नहीं है। विश्वनाथ की रचनाएं निम्न प्रकार से हैं:–

1) राघवविलास महाकाव्य

2) कुवलयाश्वचरित

3) प्रभावती परिणय।
4) चन्द्रकला।
5) प्रशस्तिरत्नावली।
6) साहित्यदर्पण।
7) काव्यप्रकाश दर्पण।
8) नरसिंहविजय।

इनमें "काव्यप्रकाशदर्पण" कविराज की मम्मटकृत काव्यप्रकाश पर लिखी गयी टीका है। तथा "नरसिंहविजय" की रचना कविराज ने सम्भवतः साहित्यदर्पण के पूर्व ही होगी क्योंकि इसका नामेल्लेख साहित्यदर्पण में नहीं है। इसका उल्लेख विश्वनाथ के सुपुत्र अनन्तदास ने साहित्य दर्पण की लोचनटीका में किया है। इनके अतिरिक्त भी विश्वनाथ के अन्य काव्य रहे होंगे, जिनके उदाहरण साहित्यदर्पण में प्राप्त होते है। परन्तु किसी पुस्तक का निर्देश वहाँ नहीं मिलता।

साहित्य दर्पण आचार्य विश्वनाथ की सबसे प्रसिद्ध कृति है। इसमें काव्य अर्थात् श्रव्य काव्य का दृश्य काव्य दोनों का ही विशद वर्णन तथा विवेचन किया गया है। साहित्यदर्पण को विश्वनाथ ने 10 परिच्छेदों में विभक्त किया है। प्रत्येक परिच्छेदों के तीन भाग किये गये है। कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण अधिकांशतः उनकी अपनी ही रचनाओं से है। शेष प्राचीन काव्यों से संकलित किये गये है।

साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद के अन्त में भी आचार्य ने दोष, गुण रीति तथा अलंकार का काव्य के साथ सम्बन्ध बताया

(1) डॉ० सत्यव्रत सिंह – हिन्दी साहित्यदर्पण भूमिका पृ० 64

है। इसके उपरान्त द्वितीय से सप्तम परिच्छेद तक काव्य के विभिन्न आवश्यक तत्वों का अतिसूक्ष्मता से विस्तृत विवेचन किया गया है।

"यथा मम तातपदानां विजयनरसिंहे।।"

अष्टम परिच्छेद में विश्वनाथ ने काव्य गुणों का निरूपण किया है। इस अष्टम परिच्छेद पर बहुत कुछ मम्मट के काव्यप्रकाश का प्रभाव दिखलाई पड़ता है, तथापि विश्वनाथ ने अपनी मौलिकता चिन्तन की छाप भी छोड़ी है। काव्य में विश्वनाथ ने भी तीन ही गुण माने हैं।

1) माधुर्य 2) ओज तथा 3) प्रसाद।

विश्वनाथ का मत है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित जो गुण के दस या बीस भेद है उनका अन्तर्भाव इन्हीं तीनों में ही हो जाता है। अतः गुण तीन ही है। इसके पश्चात् नवम तथा दशम परिच्छेद में क्रमशः रीति तथा अलंकारों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

केशवमिश्र

केशवमिश्र सोलहवीं शताब्दी के काव्यशास्त्रीय आचार्य है। इनकी एक ही रचना अलंकारशेखर उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन "काव्यमाला सीरिज नं० 50" के अन्तर्गत सीरिज वाराणसी से भी प्रकाशित हुआ।[1] केशवमिश्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के सभी विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया हैं। इस ग्रन्थ के भी तीन भाग किये गये हैं।

1) कारिका 2) वृत्ति एवं 3) उदाहरण

केशवमिश्र का कथन है कि – सूत्रों की रचना शौद्धोदनि ने की थी तथा उसके आधार पर उन्होंने ग्रन्थ की रचना की।[2]

केशवमिश्र ने अलंकारशेखर के वर्ण्यविषय का विभाजन 8 रत्न और 22 मरीचियों में किया हैं केशवमिश्र ने सात, आठ तथा नौ इन तीन मरीचियों में काव्यगुणों का विवेचन किया है। जिसमें सातवीं मरीचिका में पाँच शब्दगुण बतलाये गये है – संक्षिप्ततत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति तथा समाधि।

आठवीं मरीचिका में चार अर्थगुणों का विवेचन है।

1) भाविकत्व 2) सुशब्दत्व 3) पर्यायोक्ति 4) सुधर्मिता

तथा नवीं मरीचिका में केशवमिश्र का कहना है कि पद, वाक्य, तथा अर्थ के दोष कहीं गुण भी बन जाते हैं तब वह दोष न रहकर गुण कहलाते हैं, जिन्हें वैशेषिक गुण माना जाता है। केशवमिश्र ने इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों तथा उनकी

(1) डॉ० कृष्ण कुमार –अलंकारशास्त्र का इतिहास पृ० 250

(2) अलंकारविद्यासूत्रकारो भगवांछौद्धोदनिः
परमकारूणिकःस्वशास्त्रे प्रयर्तयिष्यन् प्रथमं
काव्यस्वरूपमाह।। –अलंकारशेखर पृ० 21

रचनाओं का भी उल्लेख किया है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता कि काव्यशास्त्र के प्रायः सभी विद्वान समालोचकों ने गुण को स्वीकार ही नहीं किया, बल्कि काव्य में उसकी अनिवार्यता को भी माना है तथा सभी आचार्यों ने गुणों के विभिन्न भेद किये है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त वक्रोक्तिकार कुन्तक ने भी गुण के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये है। उनके अनुसार गुण चार है – माधुर्य, ओज, प्रसाद तथा अभिजात्य। औचित्य को ही काव्य का सारभूत तत्व मानने वाले क्षेमेन्द्र भी गुण को औचित्य के क्षेत्र के अन्तर्गत लेते है और गुण को अलंकार तथा रस के समकक्ष रखते हुए उसका काव्यशास्त्र से सम्बन्ध प्रतिपादित करते है। रूय्यक जैसे आलंकारिक आचार्यों ने भी अपने "साहित्यमीमांसा" नामक ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में गुणों का वर्णन किया है। भानुदत्त मिश्र ने भी रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी गुण के महत्त्व को स्वीकार किया है। "अलंकारतिलक" के तृतीय परिच्छेद में गुणों की विवेचना की गयी है। उनके अनुसार गुणों के तीन भेद हैं – बाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक। शब्द के गुण वाह्य गुण, अर्थ के आभ्यन्तर तथा श्लेष इत्यादि 24 वैशेषिक गुणों का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र के प्राचीन काल से लेकर आज तक के प्रायः समस्त आचार्यों ने गुण को काव्य का आवश्यक अंग मानते हुए अपने ग्रन्थों में गुण तत्व का विवेचन प्रस्तुत किया। काव्यशास्त्र के विद्वान समालोचकों ने चाहे किसी भी काव्यांग को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है किन्तु गुण तत्वों को निःसन्देह काव्य का अनिवार्य अंग माना है। जिसके अभाव होने पर न केवल काव्यत्व की हानि होती है, वरन् काव्य की रचना ही नहीं हो सकती।

प्रथम अध्याय

गुण तत्व का ऐतिहासिक विवेचन

गुण का उद्‌भव एवं विकास

प्राचीनतम काल से लेकर अद्यावधि प्रायः सभी आचार्यों तथा साहित्यशास्त्र के समालोचकों ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को ही काव्यशास्त्र का प्रथम आदि ग्रन्थ स्वीकार किया है। निसंदेह नाट्यशास्त्र नाट्यतत्वों पर ही आधारित था तथापि भरतमुनि ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के प्रमुख तत्वों यथा–रस, अलंकार, काव्यदोष तथा काव्यगुण आदि का भी सम्यक् विवेचन किया।

इस प्रकार गुण नामक काव्य तत्व को सदैव से ही काव्य के प्रमुख तत्व के रूप में मान्यता प्राप्त रही है।

सम्भवतः जब से काव्य के आलोचक ग्रन्थों का निरूपण आरम्भ हुआ। काव्य में गुण की अचल स्थिति को भी स्वीकार किया गया है। समय के साथ–साथ आचार्यों की दृष्टि में गुण के स्वरूप भेद तथा उपभेदों की संख्या के विषय में उत्तरोत्तर मतभेद रहा तथापि गुण को काव्य का आवश्यक अंग समस्त आचार्यों ने माना है। चाहे उनका मत किसी भी काव्य सम्प्रदाय पर अवलम्बित हो। जब से काव्यों की समालोचना का युग प्रारम्भ हुआ, तभी से काव्यों के अन्तर्गत आने वाले काव्य गुणों को उद्‌भव एवं विकास तथा उसके स्वरूप आदि के विषय में अनवरत प्रयास किये जाते रहे है। समय–समय पर संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने अनेक मतों का प्रादुर्भाव किया।

सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में गुण के प्रसंग में

गुण नामक काव्यतत्व को मात्र दोषों के अभाव या विपर्यय के रूप में ही प्रतिपादित किया। नाट्यशास्त्र द्वारा प्रतिपादित गुण विवेचन ने मुख्यतः रसाश्रित तथा शब्दार्थ गुणों को ही आधार प्रदान किया था किन्तु कालान्तर में वाचिक अभिनय को अधिक पुष्ट बनाने के नाट्य प्रयोग की दृष्टि से अति संक्षिप्त रूप से विवेचित किया गया। ये गुण निरूपण रीतिवादी तथा रसवादी प्रवृत्तियों का मूल विचार बिन्दु बन गया तथा आगे चलकर रस, अलंकार, रीति इत्यादि अन्य काव्य तत्वों को प्रभावित करने में समर्थ हो सका। काव्यगुणों का लक्षण सहित विवरण जो भरत मुनि ने सर्वप्रथम प्रस्तुत किया, वह पूर्व लक्ष्य लक्षणादि के आधार पर किया यह स्पष्ट है।

काव्यों के उद्भव एवं विकास की दृष्टि से बाल्मिकी रामायण, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा जैनागम जैसे उपजीव्य ग्रन्थ विशेष रूप उल्लेख करने योग्य है। यथा–

1) बाल्मिकी रामायण में रामकथा के प्रसंग के अवसर पर उदार, मधुर, असन्दिग्ध, अविस्तर, संस्कार क्रम सम्पन्न तथा हृदयहारी गुणों का विशेषण के रूप में उल्लेख था।[1]

2) महाभारत में विचित्र पदत्व, श्रुतिसुख, मधुर और अर्थवत् आदि गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुरी, उदारता और स्पष्टत्व इत्यादि गुणों का वर्णन तथा औदार्य तथा माधुर्य गुणों का स्वरूप भरत

(1) हिन्दी नाट्यशास्त्र पृ० 480 परिशिष्ट टिप्पणी – 106

द्वारा प्रतिपादित स्थिति के ही अनुरूप है।

इसी श्रृंखला में जैनागम के "अनुयोगद्वारसूत्र" में निर्दोष, सारस्वत, हेतुमत्, अलंकृत, उपनीत, सोपचार, मित तथा मधुर इन आठ गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है। एक अन्य जैनागम "राजप्रश्नीय" में सत्यवचन के पैंतीस अवशेषों में संस्कारत्व, उदारतत्व, उपचारोपेतत्व जैसे शब्दगुण तथा महार्थ, अव्याहत, पौर्वापर्य, असन्दिग्ध, देशकालयुक्त, अतिस्निग्धमधुर, उदार तथा ओजस्वी अर्थगुण है। जिन गुणों की भरत द्वारा प्रतिपादित 10 गुणों से भावनामूलक समानता प्राप्त होती है।

काव्यगुणों के बीज तो हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से ही अंकुरित होने प्रारम्भ हो गये थे। ऋग्वेद के अनेकानेक श्लोकों में माधुर्यादि गुणों के स्पष्ट दर्शन होते हैं यथा–

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षमभिषवजाते।"

इत्यादि मन्त्र में माधुर्य नामक काव्य गुण का नियोजन किया गया है। पहले जहाँ भरतमुनि एवं उनके परवर्ती आचार्य अभिनवगुप्त ने सभी गुणों को दोष का विपर्यय न मानकर केवल माधुर्य एवं औदार्य गुण में ही दोष का अभाव माना।[1] वही ध्वनिवादी आचार्यों ने सभी गुणों की भावनात्मक सत्ता मानी तथा दोषाभावनात्मक पृथक् गुणों की सत्ता का निषेध किया।[2]

प्रारम्भ से चली आ रही गुण विषयक मान्यताओं का अवलोकन करने पर निष्कर्ष रूप में यही सार दृष्टिगोचर होता है कि – आरम्भिक काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्य के शरीरभूत शब्द

तथा अर्थ में सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाले काव्य गुणों पर ही विचार किया था, किन्तु ध्वनि युग के प्रारम्भ होने पर ध्वनिवादियों ने रस को काव्य की आत्मा माना तथा काव्य गुणों का विवेचन इसी काव्य के आत्मरूप रस के उत्कर्षाधायक धर्म के रूप में करने लगे, रस का धर्म होने के कारण ही गुणों की काव्य में अचल स्थिति मानी गयी है।

काव्य समालोचना के आरम्भिक युग से ही काव्य में गुणों की स्थिति, गुणों के स्वरूप तथा गुणों की संख्या के विषय में विभिन्न विचारधाराएँ प्रवाहित होती रही।

igy sv kpk ZHkjreqfu usxq.kkad h l ;k n l fu/kkZfjr dhA[3] उन्होंने गुणों को दोषों का अभावमात्र ही माना किन्तु उनके पश्चात्‌वर्ती आचार्य भामह ने कहा कि गुणों की संख्या मात्र तीन है।

दण्डी ने गुणों के विषय में अधिक विस्तार से विवेचन किया तथा आचार्य भरत के मत का समर्थन करते हुए पुनः गुणों के दस भेदों को स्वीकार किया। उन्होंने गुणों को वैदर्भ तथा गौड़ मार्ग के प्राणभूत तत्व के रूप में भी मान्यता दी।[4]

आचार्य दण्डी के पश्चात अग्निपुराण में गुणों का विवेचन

(1) अभिनवभारती 6/पृ० 333/334
उदाहरण भारतीयकाव्यशास्त्र मीमांसा पृ० 378
(2) केचिदन्तर्भावन्येषु दोषात्यागात् परे श्रियः
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो वश।।
मम्मट – काव्यप्रकाश 8/72
(3) भरत – नाट्यशास्त्र 17/96
(4) दण्डी – काव्यादर्श 1/41–42

अधिक विस्तृत तथा वैज्ञानिक पद्धति से हुआ। व्यास मुनि ने काव्यगुणों को शब्दगुण, अर्थगुण तथा उभयगुण भेदों में विभाजित किया।

उन्होंने गुणों की कुल संख्या 19 निर्धारित की। कालान्तर में भोजराज ने अनेक नवीन गुणों की उद्भावना की तथा काव्य गुणों को 24 भेदों में विभक्त किया। उन्होंने सभी गुणों को शब्दगुण माना तथा वैशेषिक गुणों का भी स्पष्ट विवेचन किया। आचार्य कुन्तक ने भी दण्डी आदि आचार्यों की भांति काव्यगुणों को मार्ग अथवा रीति के सर्वस्व रूप में ही प्रतिपादित किया। उन्होंने गुणों के भेदों का भी मौलिक तथा भिन्न रूप से प्रतिपादन किया। उन्होंने प्रथमतः गुणों के दो भेद किये।

1) विशिष्ट तथा 2) साधारण

तथा पुनः इनके भी दो भेदों का निरूपण किया। शनैः शनैः ध्वनिवादी युग के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धन ने गुणों के स्वरूप तथा भेदों का निर्धारण किया। उनकी मान्यता थी कि गुण मात्र तीन हैं, अधिक नहीं तथा प्राचीन आचार्यो द्वारा मान्यता प्राप्त दस गुणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन के अन्तर्गत हो जाता है। आनन्दवर्धन की इस मान्यता का उत्तरवर्ती आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ, पं० राजजगन्नाथ आदि ने समर्थन किया। इन आचार्यों के द्वारा किया गया गुण विवेचन स्पष्ट, वैज्ञानिक तथा युक्तियुक्त है।

साहित्यशास्त्रीय आचार्यों की दृष्टि में गुण

विषय प्रवेशः–

भले ही गुण तत्व साहित्यशास्त्र में कोई विशेष सम्प्रदाय नहीं है तथा ना ही उसका कोई विशेष प्रवर्तक अथवा आचार्य ही दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि संस्कृत के अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थों काव्यों तथा समालोचक ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र से लेकर अद्यावधि ा तक जितने भी समालोचक ग्रन्थ उपलब्ध होते है, उनमें गुण को विशेष महत्व प्रदान किया गया है तथा काव्यगुणों को काव्य के अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकरण में अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्यों के गुण विषयक दृष्टिकोण तथा सिद्धान्तों एवं विचारों का विवेचन करना अति आवश्यक है।

नाट्यशास्त्र

भरतमुनि ने सर्वप्रथम अपने नाट्यशास्त्र नामक ग्रन्थ में काव्यगुणों का विवेचन किया है नाट्यशास्त्र के सतरहवें अध्याय में कारिका 95 (पिचानहवें) से लेकर कारिका 105 (एक सौ पाँच) तक गुणों का विवेचन किया है।[1] भरतमुनि के अनुसार श्रुति कटुत्व इत्यादि दोषों का विपरीत स्वरूप में रहना ही गुण कहलाता है।[2] अर्थात् आचार्य भरतमुनि के मतानुसार केवल जिस

---

(1) बाबूलाल शुक्लशास्त्री – हिन्दीनाट्यशास्त्र
– संस्करण – 1978

(2) गुणाविपर्ययादेषां – हिन्दी नाट्यशास्त्र कारिका 94 पृष्ठ

काव्य में दोषों का अभाव मात्र हो, वह सगुण काव्य की श्रेणी में माना जाता है। अपनी उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर भरतमुनि ने गुणों की संख्या 10 मानी है। जो निम्नवत् है।

"श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः।

अर्थस्य च व्यक्तिरूदारता कान्तिश्च...............पदसौकुमार्यम्।।"[1]

यहाँ प्रश्न यह उठता है, कि दोषों के विघात में गुण सामान्य होते है अथवा विशेष? तो उत्तर यही प्राप्त होता है, कि दोषों के विपर्यय में गुण विशेष प्रकार से ही होते है, क्योंकि दोषाभाव होने पर निर्दुष्ट बना काव्य चमत्कारिक सौन्दर्य का आधायक होता है। भरत के इसी विचार का उत्तरवर्ती काल के आचार्यों तथा समालोचकों ने भी समर्थन किया। आचार्य भरत ने जिस कल्पना का नाट्यशास्त्र में संकेतमात्र दिया है, उस गुण तत्व को उत्तरवर्ती आचार्यों ने नये रूप तथा संकल्पनाओं से स्पष्टता प्रदान की।

चूंकि भरतमुनि की चिन्तन धारा तथा प्रवृत्ति नाट्योन्मुखी थी तथा उन्होंने वाचिक अभिनय को सबलता प्रदान करने के उद्देश्य से गुण–दोष इत्यादि का विवेचन किया था, इसलिए उसमें शब्दगत तथा अर्थगत गुणों की अस्पष्ट रेखा भी लक्षण में प्राप्त नहीं होती। भरतमुनि के द्वारा निरूपित 10 गुणों में कुछ अर्थगत है तथा कुछ उभयात्मक है। यद्यपि यह विभाजन भरतमुनि द्वारा नहीं किया गया है, तथापि उनके लक्षणों से ये तथ्य स्पष्ट हो जाता है। दोषहीन तथा अदोष काव्य को ही काव्य की मान्यता देने वाले भोज, मम्मट तथा हेमचन्द्र इत्यादि उत्तरवर्ती

आचार्यों ने भी भरतमुनि का समर्थन करते हुए गुणों के महत्व तथा आवश्यकता को स्वीकार किया।

भामह

भामह गुण तथा रीति में कोई भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं मानते। उनका कहना है कि माधुर्यादि गुण सत् काव्य के ही गुण हो सकते है, वैदर्भी या गौड़ी रीति के नहीं।[2]

आचार्य भामह ने ही प्रथम बार काव्य गुणों के भेदों का खण्डन किया तथा कहा कि गुणों की संख्या मात्र तीन है, किन्तु तत्कालीन समय में भामह की यह मान्यता कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकी कालान्तर में भामह के परवर्ती आचार्यों ने गुणो के सन्दर्भ में विचार मंथन करके गुणों की संख्या शब्दगत अर्थगत एवं उभयात्मक मानते हुए तीन से अधिक प्रतिपादित की। ध्वनिकार से प्रेरणा पाकर मम्मट ने इन तीन गुणों के महत्व को प्रतिपादित किया।[3]

आचार्य भामह चूंकि अलंकारवादी आचार्य है तथा उन्होंने अलंकार को ही काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार किया है, अतः उन्होंने काव्यालंकार में काव्य के अन्य तत्वों रस, गुण आदि का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त रूप से किया है आचार्य भामह ने द्वितीय

(1) बाबूलाल शुक्लशास्त्री– हिन्दी नाट्यशास्त्र –पृष्ठ 300 / 95

(2) डॉ० लक्ष्मीचन्द्रशास्त्री– संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियां – पृ० 69

(3) राजकिशोर सिंह – काव्यशास्त्र सिद्धान्त – पृ० 140

परिच्छेद के आरम्भ में केवल तीन कारिकाओं में ही गुणों की चर्चा की हैं इन कारिकाओं का विषय विवेचन इतना अधिक संक्षिप्त है कि उनसे भामह के गुण सम्बन्धी दृष्टिकोण पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। इन कारिकाओं में न तो काव्यगुणों की कोई सामान्य परिभाषा ही दी गयी है और न ही गुणों की उपयोगिता के विषय में कुछ कहा गया है तथापि "गौडी रीति" का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा कि–

"वह गौड़ीय काव्य भी कहीं अच्छा है, जो अलंकारयुक्त, ग्राम्यता रहित, अर्थवान, न्यायसंगत तथा अनाकुल हो। तात्पर्य यह है कि नाममात्र से किसी वस्तु को अच्छा या बुरा– गुणों पर विचार करके ही कुछ कहना चाहिए।[1]

आचार्य भामह का गुण निरूपण अत्यन्त स्थूल है। इसमें गंभीरता तथा सूक्ष्मता का अभाव है भामह के गुण विषयक विचारों का निष्कर्ष यही है कि उन्होंने

1) ओज गुण में समाज बहुलता को।

2) माधुर्य गुण में श्रव्यत्व तथा समास के अभाव को तथा

3) प्रसाद गुण में सुगम अर्थत्व तथा समास के अभाव को प्राथमिकता दी है।[2]

(1) भामह – काव्यालंकार – 1/35
(2) भामह – काव्यालंकार – पृ० 39
(3) भामह – काव्यालंकार – 2/1 – पृ० 29
(4) भामह – काव्यालंकार – 2/2 पृ० 29

अलंकारों के विशद विवेचन से पूर्व भामह के द्वारा दी गयी गुण सम्बन्धी कारिकाएं निम्नलिखित है।

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते।।[3]''

आचार्य भामह ने काव्यालंकार ग्रन्थ में गुण सम्बन्धी जिन कारिकाओं का उल्लेख किया है उनमें श्रुति मधुर एवं दीर्घ समासहीन रचना को ''माधुर्य'' कहा अर्थात् भामह के मतानुसार माधुर्य युक्त काव्य में श्रुतिमधुरता का होना वांछित है। जो काव्य अल्प समास युक्त तथा सुनने में श्रोता को आनन्दविभोर करता हो मधुर काव्य कहलाता है। प्रसाद गुण में भी अल्पसमास एवं पदों का अत्यन्त सरल तथा सुगम प्रयोग अपेक्षित है। ऐसा काव्य जो असमस्त पदों से रहित हो तथा अर्थ की प्रति सर्वसामान्य को सहजता से अनायास ही हो जावें वहां प्रसाद गुण की स्थिति होगी। भामह माधुर्य एवं प्रसाद गुण का सह अस्तित्व स्वीकार किया है। इनमें यदि भेद है तो केवल इतना कि माधुर्य भी श्रुतिमधुर पदों का तथा प्रसाद गुण में सुगम्य पदों का विनियोजन किया जाये। ऐसे असमस्त तथा सरल पद जिनका अर्थ विद्वानों से लेकर छोटे बालक सभी सहजता से समझ सकें।

''केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरि तालका।।[4]''

भामह ने ओज गुण का विवेचन करते हुए ओज गुण का लक्षण एवं उदाहरण दोनों दिये हैं। यद्यपि विद्वानों के मत में भामह द्वारा

उद्धृत लक्षण एवं उदाहरण दोनों ही अपूर्ण एवं असटीक है।

भामह समास बहुत रचना को ओज गुण से युक्त मानते है। अभिप्राय है कि ओज गुण युक्त काव्य दीर्घ समास पद योजना वाला होता है। यहां पर द्रष्टव्य है कि भामह ने उपरिलिखित गुणों को गुण की संज्ञा प्रदान न करके केवल भाविक को गुण मानकर उसे प्रबन्ध गुण की संज्ञा दी है।

"श्रव्य नातिसमस्तार्थ काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्नाबालप्रतीतार्थ प्रसादवत्।।"[1]

इसके अतिरिक्त भामह ने अपने ग्रन्थ में गुण पद का प्रयोग एक स्थान पर और किया है।

भाविक अलंकार के विवेचन में उन्होंने उसे "प्रबन्ध विषयक गुण" कहा है।[2] किन्तु यहाँ गुण शब्द का प्रयोग वैशिष्ट्य के अर्थ में है, गुण के पारिभाषिक अर्थ में नहीं है।[3]

प्रस्तुत विवेचन से यही स्पष्ट होता है, कि काव्यगुणों के क्षेत्र में आचार्य भामह का दृष्टिकोण इसी महत्वपूर्ण तथ्य पर महत्व प्राप्त करता है, कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा बताये

---

(1) भामह – काव्यालंकार – 2/3
(2) भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयकं गुणम् – भामह – काव्यालंकार 5/53
(3) भामह – काव्यालंकार भूमिका पृ० 39
(4) अग्निपुराण – 196/1 पृ० 500
(5) अग्निपुराण – 196/2 पृ० 501
(6) अग्निपुराण – 196/3 पृ० 501

गये गुणों के दस भेदों का तीन में ही अन्तर्भाव कर दिया। जिसका अनुकरण उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने किया। भले ही गुणों के विषय में यह अपना पक्ष सही प्रकार से नहीं रख पाये, किन्तु गुण विषयक उनकी यही एक मात्र विशेषता विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

अग्नि पुराण

अग्निपुराण के काव्यगुणविवेक प्रकरण के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि व्यासमुनि की दृष्टि में भी काव्यगुणों का महत्व अलंकारों की अपेक्षा अधिक था। उन्होंने कहा भी है कि निर्गुण काव्य उसी प्रकार प्रीति का विषय नहीं होता, जिस प्रकार कि कुरूप स्त्री के गले में पड़ा हुआ मनोहर हार भी भार स्वरूप ही लगता है।[4] व्यास मुनि के विचारानुसार गुण वाच्य में नहीं, वरन् भाव में होते है।[5]

उनके अनुसार गुण सामान्य तथा विशेष से दो प्रकार के होते हैं। जो गुण शब्द तथा अर्थ दोनों में प्राप्त होते हैं, वह सामान्य गुण कहलाते हैं।[6] सामान्य गुण शब्द अर्थ तथा उभय रूप से तीन प्रकार का होता है। व्यास मुनि ने शब्द गुणों की संख्या सात गिनाई है। उनके अनुसार– "शब्दमाश्रयते काव्यं शरीर यः स

(1) अग्निपुराण – पृ० 501 श्लोक 5/2
(2) अग्निपुराण – पृ० 502 श्लोक 11/2
(3) अग्निपुराण – पृ० 502 श्लोक 2/18
(4) काव्यादर्श – 2/1 पृ० 74

तद्‌गुण।।''[1]

शब्दगुणों का विस्तार से विवेचन करने के उपरान्त व्यासजी अर्थ का विवेचन करते है। अग्निपुराण में अर्थगुणों की संख्या छः मानी गयी है, वे अर्थगुण के विषय में कहते है कि– ''उच्यमानस्य शब्देन येन केनापि वस्तुनः।

उत्कर्षभावहन्नार्थो गुण इत्यभिधीयतें''।।[2]

इसी प्रकार वे उभय गुण के भी छः विभाग करते है। शब्द तथा अर्थ दोनों का ही उत्कर्ष या उपकार करने वाले उभय गुण कहलाते है।[3]

इस प्रकार व्यास जी काव्यगुणों के स्वरूप एवं भेदों–प्रभेदों को स्पष्ट करके ही काव्यगुणविवेक प्रकरण की समाप्ति करते है। किन्तु इस संक्षिप्त विवेचन से ही व्यास जी काव्यगुणों के महत्त्व तथा काव्य में गुणों की अविचल स्थिति का प्रतिपादन कर देते है। जिस मत का अनुकरण उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी किया हैं। संक्षेपतः व्यास मुनि द्वारा विवेचित गुण धारणा केवल काव्य में दोषों का अभावरूप नहीं है। उनके द्वारा निर्देशित गुणों की भावात्मक सत्ता है। अग्निपुराण का भोज के काव्यसिद्धान्तों पर प्रबल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है क्योंकि अग्निपुराण एवं भोज के गुण सम्बन्धी सिद्धान्त प्रायः समानता लिये हुए है। व्यासमुनि ने शब्दगुणों की संख्या सात गिनाई है जिनका नामोल्लेख अधोलिखित है।

(1) श्लेष (2) लालित्य (3) गाम्भीर्य (4) सौकुमार्य (5) उदारता (6) सत्या (7) यौगिकी

अग्निपुराण में उल्लिखित छः अर्थगुण इस प्रकार है।
(1) माधुर्य (2) संविधान (3) कोमलत्व (4) उदारत्व (5) प्रौढि (6) सामयिकत्व

शब्द तथा अर्थगुणों के उपकारक गुणों को व्यास ने उभय गुण कहा है ये गुण है (1) प्रसाद (2) सौभाग्य (3) यथासंख्य (4) प्रशस्तता (5) पाक (6) राग इनमें से प्रसाद गुण लगभग सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा नामतः एवं स्वरूपतः स्वीकार किया गया है।

दण्डी की दृष्टि में गुण

कवि दण्डी अलंकारवादी आचार्य है। इन्होंने काव्य के सभी शोभाकरान् धर्मों को अलंकार कहा है।[4] इस प्रकार दण्डी, गुण रीति इत्यादि सभी काव्य के शोभाआधायक तत्वों को अलंकार मानते है।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में काव्यगुणों का विस्तृत दिया है। उनके अनुसार रीति तथा गुणों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। रीति के भेदों–प्रभेदों का विवेचन करते हुए ही आचार्य दण्डी ने गुणों की व्याख्या की है।

(1) नेदृशं बहुमन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि – काव्यादर्श 1/75
(2) काव्यादर्श – 1/41/42 की वृत्ति – पृ० 37
(3) वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः – 42/1
(4) लक्ष्मीचन्द्रशास्त्री – रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियां – हस्तलिखित पत्री पृ० 206

उन्होंने भारतादि विद्वान समालोचकों के पथ का अनुगमन करते हुए ही गुणों के दस भेद स्वीकार किये हैं। दण्डी श्लेष, समता, सुकुमारता तथा ओज इन चार काव्य गुणों को शब्दगुण मानते है। प्रसाद, अभिव्यक्ति, समाधि, उदारता तथा कान्ति ये पाँच अर्थगुण है, तथा माधुर्य गुण को दण्डी उभय गुण के अन्तर्गत समाविष्ट करते है। यद्यपि दण्डी ने अधिकाँशतः भरतमुनि के द्वारा प्रतिपादित गुण धारणा के आधार ही गुणों को व्याख्यायित किया है। तथापि उनकी गुण विषयक धारणा मौलिक ही रही, जहाँ किसी विशेष गुण के विवेचन में भरतमुनि ने शब्दों पर बल दिया वहीं दण्डी ने अर्थ पर बल दिया है फलतः भरतमुनि ने जिन गुणों को शब्दगत माना दण्डी की दृष्टि में वह अर्थगुण हो गये है इसी भांति कहीं–कहीं पर भरत द्वारा निर्धारित युगलगत गुण भी दण्डी के केवल शब्दगुण अथवा अर्थगुण बन गये है।

गौड़ तथा वैदर्भ दोनों मार्गों में सभी गुणों का अनिवार्यतः अभाव होना अथवा सभी गुणों की आवश्यक सत्ता होना नितान्त असम्भव है इसी कारण से दण्डी ने कारिका में "प्रायः" पद का प्रयोग करके उसे अतिव्याप्ति दोष से बचा लिया है। दण्डी ने दोनों ही मार्गों को ग्राम्यत्व दोष से बचने को कहा है साथ ही नेयार्थ दोष को भी वैदर्भी एवं गौड़ी दोनों ही मार्गों के लिए त्याज्य बताया हैं। नेयार्थत्व दोष का त्याग ही अर्थव्यक्ति नामक गुण का लक्षण कहा गया है।[1]

टीकाकार तरूण वाचस्पति अर्थव्यक्ति औदार्य तथा समाधि

गुणों को दोनों ही मार्गों का सामान्य धर्म मानते हैं। जबकि दण्डी सौकुमार्य एवं ओज इन दो गुणों को असाधारण गुण स्वीकार करते हैं।

गौड़ी रीति में इन काव्यगुणों का प्रायः विपर्यय ही देखा गया हैं गौड़ी रीति में काव्य गुण आंशिक रूप से हो भी सकते है, तथा उनका सर्वात्मना अभाव भी हो सकता है।[2] किन्तु दण्डी ने इन काव्यगुणों को वैदर्भी का तो प्राणतत्व ही माना है। काव्यगुणों के अभाव में वैदर्भी की कल्पना करना नितान्त असंभव है।[3]

आचार्य की गुण कल्पना अति व्यापक है। उन्होंने "मधुरं रसवत्" कहकर सम्भवतः रस को भी गुणों के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया है।[4]

दण्डी के अनुसार काव्य गुणों से युक्त वैदर्भी रीति ही उत्तम शैली है। माधुर्य गुण को दोनों ही सम्प्रदायों के आचार्यों ने स्वीकार किया है अन्तर केवल इतना है कि गौड़ सम्प्रदाय के अनुयायी आचार्य लोग वृत्यनुप्रास प्रधान काव्य को मधुर मानते हैं, जबकि वैदर्भी सम्प्रदाय को मानने वाले आचार्यगण श्रुत्यनुप्रास प्रधान काव्य को अधिक माधुर्य युक्त मानते है। आचार्य दण्डी ने अलंकारवादी आचार्य होते हुए भी गुणें को अलंकारों से अधिक महत्व प्रदान किया हैं उन्होंने वैदर्भी काव्य को समस्त गुणों का समावेश होने से सत्काव्य माना है, तथा गौड़ काव्य को इसके

(1) डॉ० लक्ष्मीचन्द्रशास्त्री–रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियां हस्तलिखित – पृ० 209

(2) आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक 1/1/3

विपरीत निकृष्ट काव्य माना है, क्योंकि इसमें काव्य गुणों का विपर्यय मिलता है।[1]

अन्त हम निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि आचार्य दण्डी ने भी काव्यगुणों को काव्य के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में भी गुण काव्य के शोभा उत्पादक धर्म है। जबकि अलंकार मात्र शोभा बढ़ाने वाले तत्व है।

ध्वन्यालोककार की दृष्टि में गुण–तत्त्व

आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि नामक तत्व को ही काव्य का आत्मतत्व माना है, तथा इसी ध्वनि का विवेचन तथा स्पष्टीकरण करने के लिए ही ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना की। जैसा कि ध्वन्यालोक ग्रन्थ की पहली कारिका से विदित होता है।

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः" इत्यादि................. ।[2]

ध्वनि का विवेचन करते हुए ही प्रसंगवश प्राप्त अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों गुण, रीति अलंकार इत्यादि पर भी विचार किया गया है। ध्वन्यालोक ग्रन्थ के द्वितीय उद्योग में आनन्दवर्धन रस तथा रसभाव, भावसन्धि, रसाभास इत्यादि के प्रसंग में गुण तथा अलंकारों के स्वरूप तथा भेदों पर प्रकाश डाला है।

---

(1) आन्नदवर्धन – ध्वन्यालोक 2/78

(2) आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक 2/9

(3) आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक 2/10

आचार्य आनन्दवर्धन भी गुणों को रस का उपकारक मानते है। उनके अनुसार गुण काव्य में रस के आश्रय से रहते है तथा रस के रसत्व में वृद्धि करते है। ध्वन्यालोकाकार ने अलग–अलग रस के साथ अलग–अलग गुण का सम्बन्ध स्थापित किया है, तथा स्पष्ट किया है कि कौन सा गुण किसी रस के आश्रय में रहता है? काव्यगुणों की रस में स्थिति इस प्रकार है –

माधुर्य:–

"श्रृंगार एवं मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्य प्रतितिष्ठति।
श्रृंगारे विप्रलम्भाख्ये करूणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः"

अर्थात माधुर्य श्रृंगार रस का गुण है श्रृंगार रस अन्य रसों की अपेक्षा चित्त को अधिकं आह्लादित करता है अतः मधुर कहा जाता है। यद्यपि गुण रस के धर्म है तथापि उपचार से शब्दार्थ के धर्म भी कहे जाते हैं। अतः रस को व्यक्त करने की सामर्थ्य से युक्त शब्दार्थ ही माधुर्य गुण है चूंकि संयोग श्रृंगार की अपेक्षा वियोग श्रृंगार चित्त को अधिक आर्द्र करने की क्षमता रखता है और विप्रलम्भ की अपेक्षा करूण रस हृदय को अधिक द्रवित करता है इसलिए मन को अधिक आर्द्र करने में सक्षम माधुर्य गुण संयोग श्रृंगार में मधुर वियोग श्रृंगार में मधुरतम तथा करूण रस में मधुरिमा के प्रकृष्ट स्तर पर पहुंच जाता है।

ओज :–

ओज गुण–रौद्र, वीर तथा अद्भुतरस में स्थित रहता है।

"रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थोवाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्।।"[2]

आनन्दवर्धन ने ओजगुण को चित्त की दीप्ति माना है। यह रौद्र आदि रसों में हृदय की दीप्ति रूप में रहता है। "आदि" पद के प्रयोग से आनन्दवर्धन ने इसमें चित्त की दीप्ततायुक्त अन्य वीर एवं अद्भुत रसों का भी समावेश हो जाता है। क्योंकि माधुर्य और दीप्ति परस्पर विरोधी गुण है अतः वीर, अद्भुत एवं भयानक रसों में माधुर्य अति अल्प मात्रा में तथा ओज चित के प्रज्वलत्वभाव के कारण प्रकृष्ट रूप में रहता है। सहृदय के चित्त की दीप्ति असमास रचना से भी व्यक्त हो सकती है। तथा दीर्घ समास रचना से भी ओज गुण की व्यंजकता देखी जाती है।

प्रसाद :–

"सम्पर्कत्वं काव्यस्य यन्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादों गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः।।"[3]

प्रसाद गुण में सभी रसों को व्यञ्जित करने की शक्ति होती है। क्योंकि इसमें क्षिप्रता का भाव प्रमुख है, यह सभी रसों का सामान्य गुण है क्योंकि प्रसाद गुण सभी रचनाओं एवं सभी रसों में साधारण रूप से रहा करता है। असमास रचना भी प्रसाद गुण के अभाव में श्रृंगार आदि रसों की अभिव्यंजना करने में अक्षम

(1) तमर्थवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्।।
–आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक 2/6

(2) अभिनवगुप्ता – ध्वन्यालोक लोचन पृ० 233

होती है। उपचार से रस को शीघ्र व्यंजित करने वाले शब्द एवं अर्थ भी प्रसाद गुण युक्त ही माने गये हैं।

तथा प्रसाद सभी रसों में स्थित रहता है। ध्वन्यालोककार के मत का समर्थन करते हुए उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी गुणों की इस रसाश्रिता को मान्यता दी है।

ध्वनिकार की दृष्टि में गुण तथा अलंकारों का सम्बन्ध :–

रस के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने अलंकारों से भी गुणों का सम्बन्ध सर्वप्रथम प्रदर्शित किया है। इनसे पूर्व गुण तथा अलंकारों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में समालोचक विद्वानों में मतभेद चला आ रहा था। किन्तु ध्वनिकार ने प्राचीन मतों का खण्डन किया तथा यह स्पष्ट किया कि गुण चूंकि प्रधानभूत रस का आश्रय लेकर काव्य में स्थित रहते है, अतः वे काव्य के अंतरंग उपादान है जबकि अलंकार अंगभूत शब्दार्थ का आश्रय लेकर रहते है अतः वे काव्य वाह्य उपादान है। आचार्य आनन्दवर्धन भी रस में गुणों की स्थिति उसी प्रकार मानते है, जिस प्रकार शरीर में शौर्य आदि गुण आत्मा के आश्रय में रहते है।

जिस प्रकार आभूषण केवल शरीर के अंगों की शोभा बढ़ाने वाले होते हैं। उसी प्रकार अलंकार काव्य के अंगरूप शब्द और अर्थ के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।[1] उत्तरवर्ती आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ इत्यादि ने भी ध्वनिकार के इस मत का पोषण किया है। जबकि ठीक इससे भिन्न गुण रस के धर्म होने के

कारण काव्य में काव्यत्व को तथा रसात्मकता को उत्पन्न करते हैं। जैसे कि विश्वनाथ अपनी काव्य परिभाषा में कहा कि "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" इससे पूर्णरूपेण सिद्ध होता है गुण ही काव्य में सहृदय सामाजिक के हृदय को आहलादित करने वाले तत्व हैं जिससे कोई भी रचना अथवा कृति काव्यत्व की कोटी में परिगणित होती है।

ध्वनिकार की दृष्टि में गुण तथा रीति का सम्बन्ध :— आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति तत्वों पर भी नये दृष्टिकोण से विचार किया, उन्होंने अपनें से प्राचीन भामह तथा वामन आदि के विचार का खण्डन किया। वामन ने तीन रितियाँ प्रतिपादित करके उनमें गुणों की स्थिति सिद्ध की थी किन्तु ध्वनिकार ने कहा कि रीति तो काव्य का वाह्य अंग है। इसका नियोजन केवल रस की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए। ध्वनिकार का कहना है कि रीति गुणों का आश्रय लेकर काव्य के अंगी रस की ही अभिव्यक्ति करती है। ध्वन्यालोक में उन्होंने गुण तथा रीति के सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला है। आनन्दवर्धन, उद्‌भट आदि विद्वानों के विचारों का खण्डन करते हुए कहते है कि यदि गुण तथा रीति को एक ही माना जाए अथवा गुणों को रीति पर आश्रित मान ले, तो रीति की भांति ही गुणों का अनियत विषयत्व हो जायेगा। गुण का

(1) डॉ० हरिनाराण दीक्षित – भारतीय काव्यशास्त्र मीमांसा पृ० 380

(2) यायावरीयः सङ्क्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत्काव्यमीमांसा कविभ्यो राजशेखरः।।
काव्यमीमांसा – अध्याय 1

(3) काव्यमीमांसा – पदवाक्यविवेक 6 पृ० 55

विषय निश्चिय है तथा रीति का विषय अनिश्चित है। अतः न तो गुण तथा रीति में अभेद हो सकता है, और न ही गुण रीति पर आश्रित ही हो सकते है।[2]

गुणों का विभाजनः–

ध्वनिकार ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किये गये माधुर्यादि काव्यगुणों के विभाजन का भी विरोध किया। उन्होंने वामन इत्यादि के द्वारा किये गये गुणों के दस भेदों का खण्डन किया तथा गुणों की संख्या केवल तीन निर्धारित की माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुण। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ध्वनिकार गुण को काव्य के आत्मतत्त्व रूप रस के अपरिहार्य धर्म के रूप स्वीकार करते है। वे गुण को मात्र शब्द और अर्थ का चमत्कार नहीं मानते। उनके अनुसार गुण चित्तवृत्ति है, क्योंकि रस चित्त की तीन अवस्थाओं द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के अनुसार ही गुणों की संख्या प्रसाद, माधुर्य एवं ओज तीन है।[1]

राजशेखर

राजशेखर ने "काव्यमीमांसा" की रचना अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की विवेचना करने के लिए की थी।[2]

राजशेखर के समय तक रस, रीति, अलंकार, ध्वनि सभी सम्प्रदाय विकसित हो चुके थे। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विभिन्न मत तथा आलोचनात्मक ग्रन्थों का पर्याप्त विकास हो चुका था। अतः राजशेखर ने लगभग समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन करके कवियों की व्युत्पत्ति के निमित्त ही काव्यमीमांसा की रचना की। अंलकारशास्त्र के इतिहास में राजशेखर का कोई

मौलिक सिद्धान्त दृष्टिगोचर नहीं होता हैं अतः राजशेखर द्वारा माधुर्यादि काव्य गुणों के विषय में भी काव्यमीमांसा में कोई विशेष विवेचन प्राप्त नहीं होता है।

काव्यमीमांसा में रीति के आधार रूप में ही गुणों पर विचार कियां गया है। तथापि आचार्य राजशेखर भी काव्यगुणों को काव्य का अभिन्न अंग स्वीकार करते है। उनका कथन है –

"गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्" ।[3]

अर्थात् काव्य गुणों एवं अलंकारों से युक्त वाक्य ही काव्य है।

राजशेखर भी काव्य में गुणों की अनिवार्यता को प्रतिपादित करते है। राजशेखर के विचार में भी माधुर्यादि गुणों से रहित काव्य काव्यत्व की गरिमा से च्युत हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य राजशेखर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों वामन, उद्भट, भोज आदि का ही अनुकरण करते है।

---

(1) डॉ० हरिनाराण दीक्षित – भारतीय काव्यशास्त्र मीमांसा पृ० 380

(2) यायावरीयः सङ्क्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत्काव्यमीमांसा कविभ्यो राजशेखरः।।
काव्यमीमांसा – अध्याय 1

(3) काव्यमीमांसा – पदवाक्यविवेक ' 6 पृ० 55

कुन्तक

आचार्य कुन्तक की गुण विषयक विचारधारा उनके प्राचीन आचार्यों की गुणधारणा से बिल्कुल भिन्न है। भारतीय अलंकार शास्त्र की परम्परा में हमें गुण विषयक दो ही धाराएं प्राप्त होती है।

1) पहली धारा में गुण का शब्दार्थगत माना गया तथा उसके दस भेद किये गये।

2) दूसरी धारा में गुणों को रसाश्रित मानते हुए उसके तीन भेदों को अंगीकार किया गया, किन्तु वक्रोक्तिकार की विचारधारा इन दो धारणाओं से सर्वथा स्वतन्त्र है। बन्ध की परिभाषा देते हुए उन्होंने बन्ध के सौभाग्य तथा लावण्य तत्वों को शब्दार्थ का गुण कहा है।[1]

कुन्तक ने दण्डी की भांति रीति के लिए मार्ग पद अभिहित किया है। उन्होंने वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ में सुकुमार विचित्र एवं मध यम मार्गों का उल्लेखकर उनके गुणों का विस्तृत विवेचन किया है। कुन्तक ने प्रत्येक मार्ग के चार गुण बताये है –

1) माधुर्य 2) प्रसाद 3) लावण्य 4) आभिजात्य

सुकुमारादि तीनों मार्गों के माधुर्यादि चार गुणों के नाम्ना एक होने पर भी मार्गों की प्रकृति के अनुसार गुणों के स्वरूप में भी पर्याप्त भेद है अर्थात् सुकुमार मार्ग के माधुर्य का स्वरूप विचित्र मार्ग के माधुर्य से सर्वथा भिन्न है। केवल मध्यम मार्ग में सुकुमार तथा विचित्र मार्ग के माधुर्य की प्रकृति का मिश्रण देखा जा सकता है। यही स्थिति अन्य गुणों में भी है। उक्त तीनों में मार्गों के चार–चार माधुर्यादि गुणों को कुन्तक ने साधारण गुण माना है।

इनका विवेचन करने के उपरांत वक्रोक्तिजीवित में दो साधारण गुणों का उल्लेख किया गया है।

1) औचित्य 2) सौभाग्य

कुन्तक इन दो साधारण गुणों को पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध का गुण कहते है।[2] काव्य गुणों के निरूपण में कुन्तक ने सौभाग्य नामक गुण का वर्णन बड़े व्यापक रूप में किया है। सभी काव्य सामग्रियों के सुन्दर तथा समुचित प्रयोग से काव्य में जो लोकोत्तर सौन्दर्य की सृष्टि होती है, उसे कुन्तक ने सौभाग्य गुण माना है।[3] तथा इसी अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाले सौन्दर्य के कारण इस गुण को काव्य के आत्मरूप में स्वीकार किया है। सौभाग्य गुण का विवेचन करते हुए कुन्तक उसकी दूसरी परिभाषा करते है।

"सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम्।।"[4]

अर्थात् प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति आदि सम्पूर्ण समाग्रियों से काव्य

(1) वाचकस्य च शब्दस्य वाक्ष्यमाणं सौभाग्यलावण्यलक्षणं यद्गुणद्वयं, तस्य परिपोषकः पुष्टतातिशयकारी
— कुन्तक — वक्रोक्तिजीवितम् — 1/22

(2) एतत त्रिष्वपि मार्गेषु गुंणद्वितयमुज्जवलम्।
पदवाक्यप्रबन्धनां व्यापकत्वेन वर्त्तते।।
—कुन्तक — वक्रोक्तिजीवितम् 1/57

(3) इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन यदर्थ प्रतिभा कवेः।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते।।
— कुन्तक — वक्रोक्तिजीवितम् 1/55

(4) कुन्तक—वक्रोक्तिजीवितम् 1/56

के शब्दादि उपादेय पदार्थों में जो निर्मल छवि प्रस्फुटित होती है, उससे उत्पन्न तथा सहृदय को अलौकिक आनन्द से विभोर कर देने वाले सौभाग्य काव्य का प्राणभूत गुण है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवितम् में न केवल गुणों का निरूपण किया वरन् उन्हें काव्य का अभिन्न अंग भी माना। यही नहीं कुन्तक ने सौभाग्य नामक गुण को काव्य के आत्मतत्व के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि कुन्तक अपने से प्राचीन आचार्यों की गुण धारणा से सहमत नहीं थे, तथापि वे उनकी गुणधारणा से सर्वथा मुक्त नहीं रह सके।

उनके गुणविवेचन का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनके द्वारा किये गये गुणों के भेद उनसे प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये गुण भेद से नामतः सर्वथा भिन्न हैं, फिर भी उन गुणों के लक्षणों को उन्होंने अपने लक्षणों में ग्रहण कर लिया है। सुकुमार मार्ग का माधुर्य भामह एवं दण्डी के माधुर्य गुण के समान ही है। इसी प्रकार विचित्र मार्ग के प्रसाद में कुन्तक ने आचार्य वामन के शब्द-प्रसाद-गुण के लक्षण को ही अपनाया है।

क्षेमेन्द्र

आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्यवादी आचार्य है। उन्होंने काव्य में औचित्य को ही सर्वाधिक सूक्ष्म तत्व मानकर उसे ही काव्य के आत्मतत्व के रूप में स्वीकार किया है।

क्षेमेन्द्र रस, अलंकार, गुण, रीति इत्यादि समस्त काव्य तत्वों को औचित्य के अन्तर्गत ही परिगणित करते है।

क्षेमेन्द्र का मानना है कि अलंकार तो अलंकार ही है, तथा गुण भी गुण ही है। वह काव्य के जीवनाधायक नहीं हो सकते

है। केवल रस में ऐसी क्षमता है, अतः रसों से सिद्ध औचित्य को ही क्षेमेन्द्र काव्य का प्राण मानते है।[1]

क्षेमेन्द्र गुणों को काव्य का अंतरंग धर्म स्वीकार करते है। उनके अनुसार भी काव्य गुण के तीन ही विभेद है।

1) प्रसाद 2) माधुर्य तथा 3) ओज

ये माधुर्यादि गुण रस के अंतरंग तत्व होने के कारण अलंकारों की अपेक्षा सूक्ष्मतम तत्व है। औचित्यविचारचर्चाकार ने यद्यपि गुणों के आत्मत्व का प्रबल खण्डन किया है, तथापि वह माधुर्यादि गुणों को काव्य का अनिवार्य तत्व निःसंकोच स्वीकार करते है।

इसके अतिरिक्त आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि गुण तभी रह सकते है, जबकि उनका संयोजन औचित्य को ध्यान में रखकर किया जावे, अन्यथा औचित्य के अभाव में गुण–गुण न रहकर दोष ही हो जाते है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का काव्य में महत्त्व दर्शाने हेतु लौकिक दृष्टान्तों को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार काञ्ची, हार, नुपुर एवं कैयूर आदि आभूषण क्रमशः कटि, कण्ठ, चरण एवं पाणि के सौन्दर्य में उसी स्थिति में वृद्धिकर सकते है, जबकि उनका विनिवेश उचित अंगो पर किया जाए।

इसी प्रकार शत्रु के समक्ष शौर्य प्रदर्शन तथा प्रणत व्यक्ति के प्रति करूणा का भाव यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व की गरिमा में अभिवृद्धि करता है तो ठीक इसके विपरीत जो प्रणत जनों की अपार शूरता को प्रदर्शित करें तथा शत्रु के ऊपर करूणा करें वह व्यक्ति व्यक्तित्व की सम्पूर्ण आभा को खो बैठता है। अतः काव्य में गुण एवं अलंकारों की भी यही स्थिति है। औचित्य से प्रयुक्त

(1) औचित्यविचारचर्चा – 5 पृ० 4

श्रृंगार आदि रसों में माधुर्य आदि गुणों का आधान होता है। अन्यथा वह दोष रूप ही हो जाते है।

गुणगत औचित्य की विवेचन करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य में गुणों की स्थिति की कितने सुन्दर कल्पना की है, कि ओज, प्रसाद इत्यादि गुण काव्य में मुख्यार्थ के उत्कर्ष में निपुण होते है। और वह उसी तरह आनन्द प्रदान करने वाले होते है, जैसे – कान्तासंगम के समय नव उदित चन्द्रमा।[1] इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र भी गुणों की अक्षुण्णता को स्वीकार करते है।

भोजराज

भोजराज ने "सरस्वतीकण्ठाभरण" में गुणों का विस्तृत विवेचन किया है। इसके उपरांत "श्रृंगार प्रकाश" में भोज की उन्हीं गुण धारणाओं का विकास हुआ है, जिनका विवेचन सरस्वतीकण्ठाभरण में प्राप्त होता है। भोज का श्रृंगारप्रकाश आज उपलब्ध नहीं है, केवल डॉ० राघवन का शोध प्रबन्ध ही श्रृंगार प्रकाश में प्रस्तुत भोज के विचारों का दर्पण है। अतः भोज की गुण धारणा भोज ने गुणों को तीन वर्गों में विभाजित किया है।

1) वाह्य 2) आभ्यन्तर और 3) वैशेषिक

भोज ने वाह्य गुणों के अन्तर्गत शब्दगुणों को, आभ्यन्तर गुणों में अर्थगत गुणों को और वैशेषिक गुणों में दोषगुणों को समाहित किया।[2] भामह तथा दण्डी आदि आचार्यों ने भी विशेष स्थिति में दोषों का शोभाधायकत्व स्वीकार किया था। किन्तु भोज ने ही प्रथम बार इन्हें गुणों के अलग में रखा, अतः ये भोज की

(1) औचित्यविचारचर्चा – 14 / 28

(2) भोज – सरस्वतीकण्ठाभरण – 1 पृ० 49

नवीन कल्पना मानी गयी है।

भोजराज ने चौबीस प्रकार के शब्दगुणों की कल्पना की तथा उन्हीं नामों से चौबीस अर्थगुणों को भी मान्यता दी। प्रत्यक्षतः भोज की गुण कल्पना में भरत, दण्डी एवं वामन द्वारा सम्मत दस गुण भी सम्मिलित हैं। उनके द्वारा मान्य चौबीस गुण है –
श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता, उदातत्ता, ओज, और्जित्य, प्रेयान्, सुशब्दता, समाधि, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, सम्मितत्व, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढ़ि।[1] भोज ने दोषगुणों को वैशेषिक गुण कहा है।[2] भोज ने चौबीस काव्यदोषों में गुणों को प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भोज ने चौबीस वैशेषिक गुण माने है। जिन्हें उन्होंने पदगत, वाक्यगत और वाक्यार्थगत तीन वर्गों में विभक्त किया है। गुण तथा अलंकारों के सम्बन्ध में भी भोज ने अलंकारों की अपेक्षा गुणों को ही नित्य तथा अनिवार्य माना है।[3] उनकी मान्यता है कि गुणवत् काव्य में ही अलंकार रहते हैं अतः जहाँ–जहाँ अलंकारों का अस्तित्व है, वहाँ गुणों के साथ उसका संकर अवश्य होगा।[4] उनके अनुसार कुछ अलंकार तो गुणों से ही बनते है उदाहरणार्थ – रीति नामक शब्दालंकार श्लेष गुणों पर ही आधृत है।[5] भोज भी मम्मटादि आचार्यों की भांति ही अलंकारों की योजना को कवि की इच्छा पर निर्भर मानते हैं।

उनका मानना है कि कवि अलंकारों का त्याग करके भी मनोहर काव्य की रचना कर सकता है, किन्तु गुणों का परित्याग करके तो काव्य की रचना सम्भव ही नहीं है।[6]

रीति तथा गुण के सम्बन्ध के विषय में भी भोज आचार्य वामन के ही अनुयायी प्रतीत होते है। भोज ने गुणों के 24 भेद

मानकर भी श्लेषादि नौ गुणों को विशेष महत्व दिया है, तथा उन्होंने इन गुणों के विपर्यय को अरीतिमत् दोष कहा है।[7]

भोज पर वामन तथा आनन्दवर्धन दोनों ही आचार्यों के सिद्धान्तों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। एक और वह वामन की

---

(1) श्लेषः प्रसाद समता माधुर्य्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्त्थाकान्तिरूदारत्वमुदात्तता।।
ओजस्ताथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।।
तद्वत् समाधिः सौक्ष्यच गम्भीर्यमथ विस्तरः।।
संक्षेपः सम्मितत्वच भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरूक्तिस्तथा प्रौढ़िरथैषां लक्ष्यलक्षणे।।
भोज – सरस्वतीकण्ठाभरण 1/50

(2) वैशेषिकास्तु ते नूनं दोत्वेऽपि हियेगुणाः।।
भोज –सरस्वतीकण्ठाभरण –पृष्ठ 49

(3) अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यों गुणांलकारयोगयोः।।
भोज – सरस्वतीकण्ठाभरण 1/49

(4) गुणवत्येव वाक्येऽलंकारयोगः।
भोज – सरस्वतीकण्ठाभरण 5/771

(5) भोज – श्रृंगार प्रकाश डॉ० राघवन – पृ० 622/23

(6) अयमेव गुणालंकारयोर्विशेषः यदगुणोपादाने नियमः अलकारयोगे तु कामाचार इति।
डॉ० राघवन भोज श्रृंगार प्रकाश–1/309

(7) गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः।
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते।।
– भोज – सरस्वतीकण्ठाभरण – पृ० 27

भांति गुणों को काव्य की शोभा का प्रमुख हेतु मानते हैं। भोज गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानते है, वही दूसरी और वह आनन्दवर्धन के समान गुणों का रस के साथ सीधा सम्बन्ध भी स्वीकार करते है। इसी कारण उन्होंने गुणों को तीन भागों में विभक्त किया।

1) रसाम्भक 2) रसभाव आरब्ध 3)शुद्ध शब्दार्थगत

प्रथम दो वर्गों के गुण रस से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध रहते है। इसलिये भोज ने इन्हें अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण कहा है।[1] उनके अनुसार गुणों के इन दो वर्गों में रस तथा गुण का संकर नहीं होता। यहाँ दोनों की युगपत् स्थिति रहती है, जबकि तीसरे वर्ग में गुणों की स्थिति केवल शब्द तथा अर्थ में रहती है। इनके गुणों के साथ कहीं–कहीं रस का मिश्रण रहता है, इसलिए भोज ने इन गुणों को पृथग्यत्ननिर्वर्त्य नाम दिया है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भोज की गुण धारणा यद्यपि अधिकाँशतः आचार्य वामन के गुणविषयक विचारों से प्रभावित रही, तथापि वह आनन्दवर्धन के गुण सिद्धान्तों को पूर्णतः नजरअंदाज न कर सके, इसलिये उन्होंने वामन के मतानुसार जहां गुणों को शब्दगत तथाअर्थगत माना, वहीं ध्वनिकार के मतानुसार गुणों को रसगत भी स्वीकार किया।

आचार्य मम्मट की दृष्टि में गुण तत्व

"काव्याप्रकाश" नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ही आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण को प्रतिपादित करते हुए "सगुणौं" पद का प्रयोग किया हैं। आचार्य मम्मट ने काव्य के लिए माधुर्यादि गुणों को आवश्यक माना है। आचार्य मम्मट भी

अपने पूर्ववर्ती समालोचकों ध्वन्यालोककार तथा वामनादि के समान ही अलंकारों तथा काव्य गुणों में पर्याप्त भेद मानते है। उन्होंने काव्यप्रकाश ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में अलंकार तथा गुणों के अभेदवादी आचार्य भट्टोदभट के मत का खण्डन किया भले ही उल्लास में काव्य गुणों का विस्तृत विवेचन करते हुए – मम्मटाचार्य ने "गुणवृत्तया पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।"[3]

लिखकर उन्होंने गौणीवृत्ति से शब्दार्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध स्थापित किया है। वस्तुतः मम्मटाचार्य भी माधुर्यादि काव्यगुणों को रस का ही धर्म मानते है।[4]

काव्यप्रकाशकार अपने से प्राचीन आचार्यों की भाँति ही काव्य गुणों को शौर्यादि के समान आत्मतत्व रस के उत्कर्ष का कारण मानते है। गुणों की रस में अविचल स्थिति है, तथा गुण रस में समंवय सम्बन्ध से स्थित रहते हैं। ये माधुर्यादि गुण केवल योग्य वर्णों से ही अभिव्यक्त होते है।

मम्मटाचार्य, वामनादि सम्मत दस गुणों का प्रबल खण्डन करते हैं। उनके अनुसार गुणों की संख्या मात्र तीन ही है। माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन तीन गुणों में ही वामन द्वारा माने गये अन्य कुछ गुणों का समावेश हो जाता है। कुछ दोषाभावरूप

(1) अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यानां गुणरसानां वाक्ये सन्निवेशः
तत्र संकरव्यवहारो न प्रवर्तते।
–भोज–सरस्वतीकण्ठाभरण – पृ० 720

(2) भोज – सरस्वती कण्ठाभरण – पृ० 721

(3) काव्यप्रकाश – 94 / 71 – पृ० 39

(4) ये रसस्यांगिनो धर्माः – काव्यप्रकाश – 86 / 66 – पृ० 380

है तथा गुण न होकर दोषरूप ही है। इस प्रकार मम्मट ने काव्यप्रकाश में गुणों का विशद् तथा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

आचार्य विश्वनाथ

'अपने से पूर्ववर्ती मम्मट आदि आचार्यों की ही भांति विश्वनाथ भी काव्यगुणों को रस का अनिवार्य अंग मानते है। उनका कहना है कि जिस प्रकार शरीर में शौर्यादि गुण आत्मा के उत्कर्ष में आत्मतत्व के उत्कर्ष में आधायाक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित है।

आचार्य विश्वनाथ अलंकारों की अपेक्षा काव्य में गुणों को अधिक महत्व देते है। उनका कहना है, कि काव्य में रस के अंतरंग धर्म होने के कारण गुणों की उपस्थिति अति आवश्यक है। परन्तु अलंकारों का उपस्थित होना आवश्यक नहीं है।

विश्वनाथ गुणों को तीन भागों में विभाजित करते है।

1) माधुर्य 2) ओज तथा 3) प्रसाद

माधुर्य :–

सहृदयों के चित्त का द्रवीभावरूप केवल आनन्द को प्रदान करने वाला गुण माधुर्य है। रस से साक्षात् सम्बन्धित होने के कारण माधुर्य की रसधर्मता अक्षुण्ण है। माधुर्यगुण संयोगश्रृंगार की अपेक्षा करूण, विप्रलम्भ, श्रृंगार तथा शान्त रस में अधिक उत्कर्ष का आधायक होता है।

ओज :–

इसी प्रकार ओज नामक गुण वीर, वीभत्स, तथा रौद्र रसों की अभिव्यक्ति में चमत्कार को उत्पन्न करता है।

प्रसादगुण :–

विश्वनाथ के अनुसार प्रसाद नामक गुण तो समस्त रसों में

विद्यमान रहता है। माधुर्य तथा ओज गुण की भांति इसे किसी विशिष्ट रचना की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि शब्दों के श्रवण मात्र से ही आनन्द को उत्पन्न करने वाला गुण प्रसाद गुण है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ, वामनादि आचार्यों द्वारा सम्मत अन्य गुणों का इन्हीं तीन काव्य गुणों में अन्तर्भाव मानते है। उनके कथनानुसार – अर्थव्यक्ति नामक गुण का समावेश स्वाभावोक्ति अलंकार में हो जाता है। उनके कथनानुसार–अर्थव्यक्ति नामक गुण का समावेश स्वाभावोक्ति अलंकार में हो जाता है। अर्थश्लेष तथा समाधि को विश्वनाथ गुण की श्रृंखला से बाहर ही मानते है। तथा मार्गभेद होने के कारण समता नामक गुण को गुण न मानकर दोषों के अन्तर्गत ही अन्तभाव मानते हैं।

इस प्रकार वे प्राचीन आचार्यों द्वारा कहे गये उक्त गुणों की पृथक्ता को स्वीकार नहीं करते अपितु उन्हें केवल विचित्रता मात्र का आधायक मानते हैं।

द्वितीय अध्याय

गुण तत्व का स्वरूप एवं महत्व

गुण तत्त्व के पोषक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुण स्वरूप

काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य लक्षण का प्रतिपादन करते हुए लगभग प्रत्येक काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अपने अपने लक्षण ग्रन्थों में गुण की महत्ता को स्वीकार किया है, जिसके अन्तर्गत गुणों के स्वरूप, भेदों तथा महत्व का विवेचन किया गया है। काव्यप्रकाश नामक अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ में तो ग्रन्थकार मम्मटाचार्य ने काव्य की परिभाषा करते हुए गुण को शब्दार्थ का प्रमुख अंग या धर्म स्वीकार किया है। जैसा कि काव्य प्रकाश में मम्मटाचार्य ने काव्य का लक्षण करते हुए लिखा हैः–

''तददोषौ शब्दार्थों सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि''।[1]

अर्थात् दोष रहित, प्रसादादि गुणों से युक्त तथा स्फुट अथवा अस्फुट अलंकार युक्त शब्दार्थ काव्य कहलाते है।

उपर्यक्त परिभाषा में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है कि : माधुर्य, ओज तथा प्रसादि गुणों से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है तथा उपर्युक्त काव्य लक्षण में ही अलंकारों की अपेक्षा गुणों का विशेष महत्व प्रतिपादित किया गया है।

किन्तु साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अपने लक्षण ग्रन्थ में मम्मटाचार्य द्वारा दी गयी काव्य परिभाषा का खण्डन किया है, जिसमें मम्मट द्वारा दिये गये काव्य लक्षण के प्रत्येक पद का खण्डन करते हुए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ''सगुणौ'' पद का भी स्वरूप विवेचन करते है।

(1) मम्मट – काव्यप्रकाश 1/4

साहित्यदर्पणकार के अनुसार गुण केवल "रसमात्रधर्म" है। गुणों को रीतिवादी आचार्यों के कथनानुसार शब्द तथा अर्थ का धर्म मानना आचार्य विश्वनाथ को स्वीकार नहीं हैं आचार्य विश्वनाथ का मत है कि चूंकि प्रसादादि गुणत्रय रसों के ही स्वरूप विशेष है, इसलिए गुणों का रसात्मकता ही समावेश हो जाता है। रसात्मक या रसभावाभिव्यंजन पद काव्य है, तथा प्रसाद माधुर्यादि गुणत्रय उस रस के साक्षात् उत्कर्षवर्धक होते है। रस को रसात्मकता की चरमसीमा तक पहुंचाने में गुण ही सहायक होते हैं। माधुर्य, प्रसाद तथा ओज इन गुणत्रय के स्वरूप का निरूपण करने में साहित्यदर्पणकार–कविराज विश्वनाथ का मत अन्य अलंकारशास्त्रीय काव्याचार्यों के मतों से भिन्नता रखता हुआ प्रतीत होता है।

आचार्य मम्मट जहाँ माधुर्य नामक गुण को करूण रस, विप्रलम्भ, श्रृंगार रस तथा शान्त रस में अपने उत्कृष्ट रूप से अनुभव किया जाता हुआ मानते है। आचार्य का मत है कि माधुर्य में उपरोक्त रस धीरे–धीरे उन्नति को प्राप्त होते हैं, तथा अधिकाधिक एक अलौकिक आनन्द विशेष सहृदयों द्वारा अनुभव किया जाता है। उपरोक्त कथित रसों का स्वरूप ये माधुर्य नामक गुण एक आह्लाद विशेष है, जिसके कारण या जिसके द्वार सहृदय सामाजिक के हृदय में द्रुति उत्पन्न होती है अर्थात् सहृदय सामाजिक का मन एक अद्वितीय आनन्द से विभोर हो उठता है।

भरतमुनि

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ही हमें काव्यगुणों का विवेचन प्राप्त होता है। उनसे पूर्व जिन

आचार्यों की रचना का उल्लेख मिलता है अद्यावधि वह उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने जिस गुण तत्व का निरूपण नाट्यप्रयोग की दृष्टि से वाचिक अभिनय में किया, वही गुण विषयक धारणायें आगे और विस्तृत होकर रीतिवादी एवं रसवादी काव्यधाराओं की मूल विचार बिन्दू बन गयी तथा कालान्तर में भरत द्वारा निरूपित गुणों ने ही अन्य सम्प्रदायों के गुण सिद्धान्तों को प्रभावित किया।

आचार्य भरत ने गुणों का वर्णन दोषों का विपर्यय रूप में किया है।[1] कुछ आचार्यों ने विपर्यय पद का अर्थ दोषों का अभाव माना है तथा कुछ ने "वैपरीत्य"। भरत के गुण विवेचन का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भरत के सभी गुण मात्र दोषों के अभावरूप नहीं है, उनमें से उदारता, ओज आदि गुण भावात्मक गुण है। इसी प्रकार भरत के प्रत्येक गुण को दोष का विपरीत धर्म भी नहीं कहा जा सकता। आचार्य वामन ने तो सभी गुणों को भावरूप किया है तथा गुण के अभाव को दोष माना है।[2]

भरत ने नाट्यशास्त्र में दस गुणों का उल्लेख किया है – श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति,

(1) एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरभिर्नाटिकाश्रयाः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुयौदार्यलक्षणाः।।
भरत नाट्यशास्त्र 17/94

(2) पूर्वेगुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते।।
–वामन–काव्यालंकारसूत्र 3/1/2 वृत्ति पृ० 71

(3) भरत – नाट्यशास्त्र 16/96

(4) भरतमुनि – नाट्यशास्त्र 17/102 पृ० 305

उदारता तथा कान्ति।[3] कालान्तर में उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने भरत के इन्हीं दस गुणों को नामतः स्वीकार करके उनके शब्दगत तथा अर्थगत अनेक भेदकर दिये। स्पष्टतः भरत ने ऐसा नहीं किया तथापि उनके गुण विश्लेषण से जान पड़ता है कि उन्होंने भी अपने कुछ गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत भेद किये है। कुछ गुणों को शब्द एवं अर्थ दोनों के अन्तर्गत माना है। जैसे सौकुमार्य को पदसौकुमार्य बताकर शब्दगुणों में तथा अर्थव्यक्ति नामक गुण को अर्थगत स्वीकार किया है। इसी प्रकार सौकुमार्य गुण को ही जहाँ पद सौकुमार्य कहकर पदगत बताया, वही उसका लक्षण सुकुमार्थसंयुक्तम्[4] कहकर उसके अर्थगत होने पर भी जोर दिया गया है।

भामह

काव्यशास्त्र में आचार्य भरत के पश्तात् काव्यालंकार में ही गुणों का विवेचन प्राप्त होता है। यद्यपि भामह ने गुण पद की कोई परिभाषा नहीं की तथापि गुणों की संख्या के विषय में उनकी कल्पना नितान्त मौलिक हैं। उन्होंने गुणों के जो तीन भेद स्वीकार किये हैं, उनके नाम अवश्य भरत के दस गुणों से गृहित हैं किन्तु उनका स्वरूप बिल्कुल अलग है। भामह के बाद ध्वनिवादियों ने भी माधुर्य, प्रसाद तथा ओज नाम से गुणों के तीन ही भेद स्वीकार किये किन्तु उनके गुणों का स्वरूप भामह सम्मत गुणों से सर्वथा भिन्न हैं। ध्वनिवादियों ने जहाँ गुणों को रसाश्रित मानकर उनका स्वरूप निर्धारित किया। वहीं भामह ने गुणों का आधार समास को माना। इस प्रकार भामह ने काव्य गुणों को संघटना अर्थात् रीति के आश्रित प्रतिपादित किया। रीति विवेचन

में ही भामह ने कुछ गुणों का नामोल्लेख किया है। काव्य गुणों पर ही रीति की श्रेष्ठता निर्भर करती है। उनका कहना है कि रीति की महत्ता का कारण उसमें प्रसन्न, ऋजु, कोमल, श्रुतिपेशल, आग्राम्य तथा अनाकुल शब्दार्थ का होना है। इन गुणों से युक्त गौड़ी रीति भी सुन्दर है तथ इन गुणों से रहित वैदर्भी भी सुन्दर नहीं है।[1]

काव्यालंकार के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि भामह ने गुण को प्रमुख विवेच्य नहीं बनाया तथा गुणों के भेदों के लक्षण देकर कुछ गुणों का मात्र संकेत कर दिया तथापि भामह काव्यगुणों के स्वरूप की व्यापकता से भली–भाँति परिचित थे।

भामह द्वारा उल्लिखित प्रसन्न पद अन्य आचार्यों द्वारा सम्मत प्रसाद गुण ही है। उनके कोमलत्व तथा श्रुतिपेशलत्व पद आचार्य भरतमुनि के माधुर्य एवं सुकुमारता गुण के समकक्ष ही है भामह ने जिस अग्राम्यता का उल्लेख किया है, वह काव्यादर्श में दण्डी ने माधुर्य गुण का एक भेद माना है।[2] इसी प्रकार अनाकुलत्व को दण्डी ओज गुण का भेद मानते हैं।

स्पष्टतः भामह ने गुण एवं अलंकार में कोई भेद प्रदर्शित नहीं किया है। आचार्य दंडी के समान भामह भी सम्भवतः गुणों को अलंकारों से अभिन्न ही मानते थे। काव्यालंकार में गुणों का विवेचन आचार्य भामह ने अलग परिच्छेद में न करके अलंकार विवेचन से ठीक पहले किया है। इस आधार पर डॉ० एस०के०डे०

(1) भामह – काव्यालंकार 1/34–35

(2) दण्डी – काव्यादर्श 1/62–68

विवेचन से ठीक पहले किया है। इस आधार पर डॉ० एस०के०डे० ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भामह गुणों को अलंकारों से अलग ही मानते थे, किन्तु दोनों का सादृश्य भी उन्हे मान्य था। गुण भी काव्य की शोभा में वृद्धि करते है अतः गुणों को भी अलंकार कहा जा सकता है, ऐसा भामह का मत है। बाद में दण्डी ने भी गुण आदि तत्वों का व्यापक रूप में अलंकार कहा था। किन्तु दण्डी की मान्यता का भामह की गुण धारणा में अन्तर केवल इस बात है कि जहाँ दण्डी गुणों को मार्ग विभाजन या असाधारण अलंकार कहते हैं तथा मार्ग द्वयगत साधारण उपमा आदि अलंकारों से गुणों का भेद प्रदर्शित करते है, वहाँ भामह सैद्धान्तिक रूप से गुण तथा अलंकारों में कोई भेद नहीं मानते।[1]

अग्नि पुराण में व्यक्त गुण का स्वरूप

अग्नि पुराण में व्यक्त को काव्य में कान्ति का आधान करने वाले तत्व के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[2] व्यासमुनि ने मुख्य रूप से काव्यगुणों के दो भेद किये है। सामान्य गुण एवं वैशेषिक गुण।[3]

सामान्य गुण के पुनः तीन उपभेद किये गये हैं –

1) शब्दगत गुण 2) अर्थगुण 3) उभयगत गुण

वैशेषिक गुणों में उन काव्य दोषों को रखा गया है, जो कि विशेष परिस्थितियों में काव्य के सौन्दर्यवर्धक गुण बन जाते है। व्यास ने इन वैशेषिक गुणों का दोष प्रकरण के अन्तर्गत किया है।

अग्नि पुराण में काव्य गुणों का दोषों का अभाव मात्र नहीं माना गया, वरन् उसमें गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की गयी है। सामान्य गुण उन्नीस हैं। जिसमें सात शब्दगुण, छः अर्थगुण तथा छः ही उभयगुण माने गये है।

अग्निपुराणकार ने यद्यपि ओज गुण की परिकल्पना गुण विभाग में नहीं की है तथापि सत्या तथा यौगिकी नामक शब्द गुणों के लक्षण के स्थान पर उन्होंने ओज गुण का ही स्वरूप निरूपित कर दिया है। उन्होंने ओज गुण को सभी पद्यों का जीवित माना है।[4] जबकि उनके पूर्ववर्ती दण्डी ने ओज केवल गद्य का प्राण माना था। अग्नि पुराण में उसके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित दस गुणों में से अधिकांश गुणों को नाम्ना तथा स्वरूपतः स्वीकार किया गया है। तथापि उन्होंने स्वतन्त्र भाव से

भी कुछ गुण कल्पित किये है। अग्निपुराण तथा भोज के गुण विवेचन में समानता दिखलाई पड़ती है। इनके अधिकाँश गुणों के नाम तथा उनके स्वरूप में समानता है। कुछ गुण ऐसे भी है, जिनमें केवल नाममात्र का ही भेद परिलक्षित होता है, उनमें स्वरूपगत भेद नहीं हैं। इसी कारण से डॉ० व्ही० राघवन ने कहा है कि – "अग्निपुराण पर भोज का बहुत प्रभाव है।[1] इसी प्रकार डॉ० राघवन के विपरीत डॉ० सुशील कुमार डे का मत है कि – "भोज पर अग्निपुराण का प्रभाव है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि भोज तथा अग्निपुराण में व्यक्त गुण सम्बन्धी विचार एक समान है।

वैशेषिक गुणों का विवेचन अग्निपुराण में गुण विवेचन में ने देकर दोष निरूपण अध्याय किया गया है। यहाँ कुछ काव्य दोषों का अदोषत्व दिखाया गया है। ये दोष हैं –

असिद्धत्व, विरुत्व, अनेकान्तिकता, सत्प्रतिपक्षत्व, कालातीत

(1) Bhamaha would not hesitae to take them in the wider acceptation of an Alamkara as that which embellishes just in the same way as Dandin does (2-1-3). But he can not be concerned with Dandin's distinction between sadharana (or marga-dvaya-gata and visesa (Ekamarga- gata) Alamkara.................. S.K. De some prot of skt. poe. (P-60)

(2) यः काव्ये महतीं छायाम नुग्रणात्यसौ गुणः।
– अग्निपुराण भाग – 2

(3) सम्भवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा।
– अग्निपुराण – 346–3

(4) ओजः समासभूयस्त्वमेतत्पद्यादि जीवितम्
– अग्निपुराण – 346 / 10

संकर, पक्ष–सपक्ष नास्तित्व तथा विपक्ष अस्तित्व।

वैशेषिक गुण उन काव्यदोषों को माना जाता है, जो विशेष स्थिति में काव्य के सौन्दयवर्धन बन जाते है, किन्तु ये दोष न तो काव्यगत दोष है, तथा नहीं इनके सौन्दर्यधायक बनने का कोई प्रमाण उपलब्ध है। अतः इन्हें वैशेशिक गुणों की श्रेणी में रखना उचित नहीं जान पड़ता है। उपुर्यक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अग्निपुराण तथा भोज के गुण सम्बन्धी विचार समानता लिए हुए हैं।

अग्निपुराण के अलंकार खण्ड में गुण तथा अलंकारों की पारस्परिक स्थिति के सम्बन्ध में भी भोज से मिलती–जुलती ध ारणा व्यक्त की गयी है तथा गुण के अस्तित्व से ही काव्य में अलंकारों की उपयोगिता है। अन्यथा वे बोझिल ही है। अग्निपुराण में गुणों को मात्र दोषों का अभाव न मानकर उसके काव्यगत महत्व को स्पष्ट किया गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अग्निपुराण में भी गुणों को अलंकारों की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया गया है।

दण्डी

आचार्य भामह के बाद दण्डी ने ही काव्यगुणों का विस्तार से विचार किया किन्तु भामह के गुण सम्बन्धी धारणाओं का प्रभाव दण्डी के विचारों पर नहीं पड़ा है। हाँ आचार्य भरतमुनि के गुण

(1) डॉ० व्ही० राघवन – Bhoja's Sringara Prakash Vol. I पृ० 349
(2) डॉ० सुनीलकुमार डे० – History of Sanskrit Poetics Vol. II पृ० 206
(3) अग्निपुराण – 347 / 23 / 24

सिद्धान्तों ने दण्डी को अवश्य प्रभावित किया। दण्डी ने आचार्य भरत के समान गुणों के दस भेदों को माना तथा गुणों के भरत द्वारा किये गये नामकरण को भी स्वीकार किया। दण्डी के अधि
ाकांश गुण लक्षण भी आचार्य भरत द्वारा किये गये नामकरण को भी स्वीकार किया। दण्डी के अधिकांश गुण लक्षण भी आचार्य भरत द्वारा किये गये लक्षणों से मिलते–जुलते हैं। इतना होने पर भी दण्डी ने भरत के विचारों का अंधानुसरण नहीं किया। उनके गुण सम्बन्धी विचारों में सर्वथा मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। भरत ने जहां शब्दों पर बल दिया, उसी गुण में दण्डी ने अर्थ पर बल दिया है।

आचार्य दण्डी ने वैदर्भी एवं गौड़ी रीति (जिसे उन्होंने मार्ग शब्द से अभिहित किया है) के प्रसंग में दस गुणों का उल्लेख

---

(1) श्लेषः प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ।।–दण्डी–काव्यादर्श 1/41

(2) इतिवैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।–दण्डी–काव्यादर्श 1/42

(3) एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि।–दण्डी–काव्यादर्श 1/42

(4) काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।–दण्डी–काव्यादर्श 1/21

(5) काश्चिन्मार्गविभागार्थयुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रिया।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते।।–दण्डी–काव्यादर्श 2/3

(6) ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।–दण्डी–काव्यादर्श 1/80

(7) तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थःसमग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति।। दण्डी – काव्यादर्श 1/80

(8) विरोधस्सकलोप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उपक्रम्य दोषगणनां गुण–वीथीं विगाहते।।–दण्डी–काव्यादर्श 3/179

किया है।[1] दण्डी ने इन दस गुणों को वैदर्भी मार्ग के प्राण कहा है।[2] गौड़ी मार्ग में इन गुणों का प्रायः विपर्यय पाया जाता है।[3] प्रायः पद का प्रयोग करके दण्डी ने इसे अतिव्याप्ति दोष से बचा लिया है, क्योंकि गौड़ी मार्ग में भी सभी गुणों का सर्वथा विपर्यय होना असम्भव ही है। कुछ गुणों को दण्डी ने स्वयं दोनों मार्गों में स्वीकार किया है। यद्यपि दण्डी ने सभी शोभाकरान् धर्मों को अलंकार[4] कहकर गुण, रीति, वृत्ति इत्यादि सभी काव्य तत्वों को अलंकारों के अन्दर ही समाविष्ट कर लिया है तथापि वे अंलकारों को गुण से भिन्न ही मानते थे। दण्डी ने गुणों को असाधारण ध र्म तथा उपमादि अलंकारों को साधारण धर्म कहा है।[5]

वस्तुतः दण्डी काव्य में गुणों को सर्वाधिक आवश्यक तत्व मानते है। काव्य के दोनों मार्गों में से वैदर्भ मार्ग के तो ये दस गुण प्राण ही माने गये है। कुछ गुण गौड़ मार्ग के भी आत्मरूप है जैसे– ओज गुण को तो दोनो मार्गों के गद्य के प्राणरूप में उल्लेख हुआ है।[6]

समाधि नामक गुण को तो दण्डी ने काव्यसर्वस्व कहा है। जो दोनों ही मार्गों के कवियों द्वारा काव्य की आत्मा माना गया है।[7] इस प्रकार स्पष्ट है कि दण्डी ने भी माधुर्यादि काव्यगुणों को काव्य के प्राणरूप में समादृत तथा प्रतिष्ठित किया है।

भामह के समान दण्डी को भी औचित्य के कारण दोषों का गुणत्व मान्य था। उनका मानना है कि औचित्य के होने पर अपार्थ दोष नहीं रह जाता है। देश, काल, कलादि सभी विरोध कवि के कौशल से गुण बन जाते है।[8]

यास्कीय काव्यालंकार सूत्र

मुनिवर यास्क ने काव्य के तत्वों पर "काव्यांलकार सूत्राणि नामक ग्रन्थ लिखा तथा इस ग्रन्थ में काव्य के अनिवार्य तत्वों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया। मुनिवर यास्क के "काव्यालंकारसूत्र" पर वात्स्यायन मुनि ने भाष्य लिखा, किन्तु आज यह दोनों ही ग्रन्थ रत्न उपलब्ध नहीं हैं। केवल "काव्यालंकारसूत्र" पर लिखी गयी आचार्य वामन कृति "काव्यालंकार सूत्रवृत्ति" ग्रन्थ ही उपलब्ध ा है। जिसमें आचार्य वामन ने "काव्यालंकारसूत्र" ग्रन्थ क बारह अध्यायों को पाँच अधिकरणों में विभक्त किया है। यास्क मुनि द्वारा विरचित काव्यालंकारसूत्राणि के प्रथम, दशम एवं बारहवें अध याय के दस सूत्रों की न्यूनता दिखाई देती है। जिसमें–

मुनिवर यास्क ने भी अपने ग्रन्थ में "गुण" तत्व को काव्य का अनिवार्य तत्व माना है। उन्होंने काव्य का लक्षण करते हुए काव्य को आवश्यक रूप से गुण युक्त बतलाया है।[1] मुनिवर यास्क ने काव्यगुणों के अप्रतिम महत्व को स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम रीति तत्व के अन्तर्गत काव्यगुणों का विवेचन किया है। इसके अनन्तर पुनः माधुर्यादि गुणों की विशद व्याख्या की है। वैसे तो वामन द्वारा लिखी गयी वृत्ति के आधार पर मुनिवर यास्क के गुण विषयक मूल सिद्धान्तों का उल्लेख हो चुका है। तथापि यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि यास्क ने न केवल काव्य में गुणों को महत्व प्रदान किया वरन् गुणों को काव्य के मूल तत्व काव्य के आत्मतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने काव्य के लक्षण में गुणों की उपस्थिति को अनिवार्य माना। यास्क ने दोषों को गुणों के अभावरूप में ही मान्यता दी।[2]

उन्होंने पदसंघटना रूप रीति को भी गुणों के आश्रित ही माना। उन्होंने कहा कि काव्य गुणों के अभाव में रीति की संकल्पना करना व्यर्थ है।[3]

जिस "रस" तत्व को काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता दी, उस "रस" की गणना भी मुनिवर यास्क ने कान्ति नामक गुण के ही अन्तर्गत कर ली है।[4]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यास्क ने गुणों का अतिशय महत्व प्रदान किया तथा उसे काव्य के आत्मतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है।[5]

वामन

आचार्य वामन ने काव्यालंकार के तीसरे अधिकरण में काव्यगुणों का विशद निरूपण किया है। उनकी मान्यता है कि काव्य में चमत्कार को उत्पन्न करने वाला धर्म गुण ही है।[1] किसी भी उत्कृष्ट काव्य में गुणों का होना अति अनिवार्य है। वामन ने काव्यगुणों को भावात्मक मानाहै। उनके अनुसार गुणों के अभाव को ही दोष कहते हैं।[2] इस प्रकार वामन ने भरत के गुण सिद्धान्त का खण्डन किया है, क्योंकि आचार्य भरत दोष के अभाव को गुण

(1) गुणालंकारसंगतावदुष्टौ रसवच्छब्दाथौ काव्यम् काव्यालंकार 1/4 पृ० 17

(2) गुण विपर्ययात्मानो दोषाः। – यास्क काव्यालंकारसूत्राणि 4/1

(3) समग्रगुणा वैदर्भी।
2/11–यास्क काव्यालंकारसूत्राणि 12/13/14/20/21पर्यन्त

(4) दीप्तरसत्वं कान्तिः। – यास्क काव्यालंकारसूत्र 7/15

(5) विशेषोगुणात्मा। – यास्क काव्यालंकारसूत्र 2/8

कहते हैं, जबकि वामन गुणों के अभाव रूप में दोषों को परिभाषित करते है। आचार्य वामन ने जहाँ रीति तत्व की काव्य के आत्मत्वरूप में उद्घोषणा की, वही गुण को रीति की आत्मा माना।[3] उन्होंने वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली रीतियों के स्वरूप का निर्धारण भी गुणों के भाव एवं अभाव पर ही किया। वामन ने आचार्य दण्डी के समान ही सभी काव्यगुणों से युक्त वैदर्भी को उत्कृष्ट रीति माना।[4] तथा गुणाभाव के आधार पर ही गौड़ी रीति को निम्नकोटी का समझा।[5] आचार्य वामन से पूर्ववर्ती भरत तथा दण्डी ने गुणों के दस भेद माने किन्तु उनके शब्दगत या अर्थगत होने का स्पष्ट विवेचन नहीं किया, उनके कुछ गुण केवल शब्दगत थे और कुछ मात्र अर्थगत। आचार्य वामन ने इस परम्परा से हटकर काव्यगुणों के बीस भेद दिये। भरत एवं दण्डी द्वारा स्वीकृत दस भेदों का ही वामन ने शब्दगुण एवं अर्थगुणों के रूप में स्पष्ट निरूपण किया।

वामन द्वारा प्रतिपादित गुण के स्वरूप को गोपेन्द्र तिप्पभूपाल ने कामधेनु टीका में स्पष्ट किया है कि – गुण वास्तव में रीतिनिष्ठ है, केवल औपचारिक रूप से उन्हें काव्य का धर्म कहा जाता है।[6] गुण काव्य की शोभा के आवश्यक हेतु है।[7] वामन का मत है कि गुणों की काव्य में अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, किन्तु गुण सहृदयों की संवेदना का विषय है।[8] इस कारण से "गुण नहीं है" अथवा गुण भ्रामक है।[9] ऐसा मानना उचित नहीं है। अतः वामन ने गुणों के स्वरूप की कल्पना नितान्त स्वतन्त्र रूप से की है।

आचार्य वामन ने गुणों को अलंकारों से सर्वथा भिन्न माना है। उन्होंने दण्डी के समान अलंकारों का सामान्य तथा व्यापक अर्थ सौन्दर्य लिया।[1] अर्थात् काव्य के समस्त सौन्दर्य उपादन अलंकार

है। इस दृष्टि से गुण को भी वामन ने अलंकार के अन्तर्गत परिगणित किया, किन्तु तृतीय अधिकरण में वामन ने अलंकार का विशेष अर्थ उपमादि अलंकार लेकर गुणों की अपेक्षा गौण स्थान दिया।[2] वामन की मान्यता है कि जिस प्रकार यौवन तथा लावण्य से शून्य स्त्री के शरीर पर अलंकार सुशोभित नहीं होते, उसकी प्रकार काव्य रूपी शरीर के गुणों से रहित होने पर अलंकारों का कोई महत्व नहीं रह जाता है।[3]

आनन्द वर्धनाचार्य द्वारा प्रतिपादित गुण का स्वरूप

आनन्दवर्धन ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य है। उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र को अपनी अद्‌भुत वैचारिक प्रखरता एवं क्षमता से नया मापदण्ड दिया। अपने से प्राचीन आचार्यों के मत खण्डन करते हुए उन्होंने अपने मत को युक्तियुक्त तर्क तथा प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है।

ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने गुण के स्वरूप पर विचार करते हुए गुणों के संघटनाश्रयत्व सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए उसे काव्य के अंगीभूत रसभाव आदि पर आश्रित माना तथा अलकारों को काव्य के शरी शब्द एवं अर्थ पर आश्रित मानकर दोनों में परस्पर भेद को भी स्पष्ट किया है।

तमर्थमवलम्बन्ते येऽग्निों ने गुणाः स्मृताः।
अग्ङाश्रितास्त्वलङकारा मन्तव्या कटकादिवत्।[4]

अर्थात् जो उस रसादि रूप अर्थ का अवलम्ब करते हैं वे गुण कहलाते हैं जिस प्रकार शौर्य माधुर्य आदि आत्मा के गुण होते हैं उसी आत्मा में स्थायी रूप से निवास करते है, उसी प्रकार ये

माधुर्यादि काव्यगुण काव्य के आत्मस्वरूप रसादि तत्व में ही अवलम्बित रहते है। जैसे श्रृंगार रस प्रमुख मधुर तथा परम आनन्दकारी रस है तथा उस श्रृंगारमय काव्य का आश्रय लेकर ही माधुर्य नामक काव्यगुण प्रतिष्ठित होता है।[4] ध्वन्यालोक –2/29 पृ० 115 गुण वास्तव में रस के ही धर्म है। वह कभी–2 उपचार से शब्द तथा अर्थ के धर्म कह दिये जाते हैं। आनन्दवर्धन ने गुणों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्य भामह का ही अनुसरण किया हैं। किन्तु संख्या एवं नामतः आनन्दवर्धन के गुण भामह के समान होने पर भी स्वरूपतः ध्वनिकार ने गुणों की मौलिक उद्‌भावना की है।

भामह ने गुणों को दीर्घ समास तथा अल्पसमास पदरचना के आधार पर माधुर्य, ओज एवं प्रसाद रूप में उल्लिखित किया है। किन्तु आनन्दवर्धन ने चित की द्रुति, दीप्ति एवं विकास के आधार पर गुणों का स्वरूप निर्धारण किया है।

आनन्दवर्धन ने भी माधुर्य तथा ओज गुण की अपेक्षा प्रसाद गुण को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इसका कारण यह रहांकि रौद्र, वीर आदि जहाँ माधुर्य गुण का अभाव होता है वहीं श्रृंगार

(1) सौन्दर्यमलंकारः। – वामन – काव्यालंकार 1/1/2

(2) तद्‌तिशयहेतवस्त्वलंकाराः। – वामन काव्यालंकार 3/1/2

(3) युवतेरिवरूपभंग। काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तरराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यभंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकारणानि संश्रयन्ते।।
– वामन – काव्यलंकार 3/1/2 पृ० 88

एवं करूण रस के प्रसंग में ओज गुण की न्यूनता दिखलायी पड़ती है किन्तु प्रसाद गुण का अस्तित्व सभी रसों में समान रूप से अनिवार्यतः परिलक्षित होता हैं अतः आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य का सबसे व्यापक गुण प्रसाद गुण ही है।

कुन्तक

कुन्तक की गुण विषयक धारण अपने प्राचीन आचार्यों के मत से सर्वथा भिन्न है। उन्होंने गुण के स्वरूप पर स्वरूप से विचार किया है। कुन्तक ने आचार्य दण्डी के समान ही गुणों का उल्लेख मार्गों के विवेचन में किया। उनके अनुसार मार्ग तीन है – सुकुमार, विचित्र और मध्यम। प्रत्येक मार्ग के चार–चार गुण बताये गये है। माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। प्रत्येक मार्ग के माधुर्य आदि गुणों के स्वरूप परस्पर भिन्न–भिन्न हैं। कुन्तक ने उक्त गुणों को असाधारण गुण माना है। इन्हीं मार्गों के दो साधारण गुणों का निरूपण भी वक्रोक्तिजीवितम् में किया गया है। वे हैं – औचित्य और सौभाग्य। इन दोनों गुणों को कुन्तक ने पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध का गुण कहा है।[1]

भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक ही एक मात्र ऐसे आचार्य है, जिन्होंने औचित्य को गुण माना है। अन्यथा प्रायः सभी आचार्यों ने औचित्य को गुणों के विधायक धर्म के रूप में ही स्वीकार किया है। कुन्तक के द्वारा प्रतिपादित माधुर्य गुण के स्वरूप से बहुत अधिक भिन्न नहीं है।

(1) एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुण द्वितयमुज्जवलम्।
(2) पदवाक्यं प्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्त्तते।।
– कुन्तक – वक्रोक्तिजीवितमत् 1/57

कुन्तक ने औचित्य गुण का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, वही औचित्य को काव्य की आत्मामानने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र को भी अभिप्रेत है। कुन्तक ने सौभाग्य गुण का वर्णन बहुत विस्तृत रूप से किया है। उन्होंने अर्थगत सौन्दर्य गुण माना है। वस्तुतः अर्थ को अधिक से अधिक चमत्कारपूर्ण बनाना ही कवि का उद्देश्य होता है। कुन्तक ने सौभाग्य गुण के लक्षण में कहा है कि – सभी काव्य सामग्रियों के सुन्दर प्रयोग से काव्य में जो अद्वितीय सौन्दर्य की सृष्टि होती है। वह सौभाग्य गुण है।

कुन्तक ने सौभाग्य नामक गुण को तो काव्य की आत्मा ही मान लिया है। सौभाग्य के दूसरे लक्षण में उन्होंने कहा है कि – योग्यता के साथ व्युत्पत्ति इत्यादि सम्पूर्ण तत्वों से काव्य के शब्दादि उपादेय पदार्थों में जो निर्मल छटा प्रस्फुटित होती है, उससे निष्पन्न तथा अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला यह सौभाग्य काव्य का प्राणस्वरूप गुण है।[1]

इस प्रकार कुन्तक ने भी गुणों को काव्य के आवश्यक धर्म के रूप में स्वीकार किया है उन्होंने गुणों को मार्गों के आधाररूप में प्रतिपादित किया है।

भोजराज

भोजराज ने न तो आचार्य भरत की भांति काव्यगुणों की संख्या दस मानी और न ही आचार्य आनन्दवर्धन के त्रिविध गुणों को स्वीकार किया। उन्होंने सरस्वतीकण्ठाभरण, में चौबीस शब्दगुण, चौबीस अर्थगुण, तथा चौबिस वैशेषिक गुणों की कल्पना की।[2] भोजराज ने ही सर्वप्रथम दोषगुणों को पृथक वर्ग में वर्गीकृत किया है। यद्यपि प्रत्यक्षतः इन गुणों में भरत, दण्डी आदि आचार्यों

के दस गुण भी अन्तर्भूत हैं तथापि उन्होंने कुछ नवीन गुणों की भी कल्पना की है। भोज ने अपने चौबीस गुणों में दण्डी आदि सम्मत दस गुणों को ही अधिक महत्व प्रदान किया है। आचार्य दण्डी तथा भोज की गुण–धारणा में भेद केवल इतना है कि जहाँ दण्डी ने शैथिल्य को केवल वैदर्भ मार्ग का दोष माना वहाँ भोज ने उस गुण विपर्ययात्मक अरीतिमत् दोष कहकर काव्य से सर्वथा च्युत कर दिया है।

सरस्वती कण्ठाभरण की रत्नेश्वर टीका में भोज की गुण–धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि – श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, माधुर्य, कान्ति, उदारता तथा ओज। इन गुणों के योग से वाक्य में वक्रता आती है तथा वह काव्य कहलाता है। इन गुणों के भंग होने पर वाक्यमात्र काव्याभास बनकर रह जाता है। अतः ये गुणों का विपर्यय, दोष है।[1]

इसी प्रकार जिस समाधि नामक गुण को दण्डी ने काव्य सर्वस्व कहकर समस्त काव्यगुणों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया था, उस समाधिगुण की भोज ने उपेक्षा कर दी है। उन्होंने नौ गुणों के विपर्यय दोष में समाधि–विपर्यय दोष का उल्लेख कहीं नहीं किया है।

भोज ने वैशेषिक गुणों में उन दोषो का निरूपण किया जो विशेष परिस्थितियों में गुण बन जाते है। इस वर्ग के अन्तर्गत भी उन्होंने चौबीस दोषों का गुणत्व दिखाया है। इनमें से सोलह पदगत दोषगुण है। आठ वाक्यगत वैशेषिक गुण है इसके अतिरिक्त तीन उपमा दोष, तीन छन्द दोष तथा चौदह वाक्यार्थगत दोषों का भी विवेचन सरस्वतीकण्ठाभरण में प्राप्त होता है।

भामह आदि आचार्यों ने जिन तत्वों का निरूपण महाकाव्य के

अंगरूप मे किया भोज ने उन्हें गुणरूप में स्वीकार कर लिया हैं वस्तुतः प्रथमबार भोज ने ही प्रबन्धगुणों की कल्पना की तथा सम्पूर्ण प्रबन्ध के शब्दगत, अर्थगत एवं उभयगत गुणों पर विचार किया। इन गुणों में से चतुर्वर्गफलायत्तत्व, चतुरोदत्तनायकत्व, अलंङ्कृतत्व, असंक्षिप्त, रसभावनिरन्तरत्व, नतिविस्तीर्णसर्गत्व, श्रव्यवृत्तत्व, सुसन्धित्व तथा लोकरंजकत्व इत्यादि तत्व काव्यादर्श में महाकाव्य के अंग कहे गये हैं।[2] जिन्हें भोज ने प्रबन्ध गुण कहा है।

भोज के गुण सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने से निष्कर्ष रूप में यही तथ्य समक्ष उपस्थित होते है कि भोज के चौबीस गुणों में से कुछ गुण तो नामतः एवं स्वरूप भरत, दण्डी तथा वामन इत्यादि आचार्यों से ही ग्रहण कर लिये हैं तथा जिन नवीन गुणों से हमारा साक्षात्कार होता है, उनका स्वरूप भी प्राचीन आचार्यों के गुण लक्षण के आधार पर ही कल्पित किया गया है। जैसे भोज का शब्दगत गति नामक गुण का स्वरूप वामन के

(1) सर्वसम्पत् परिस्पदसम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिक चमत्कारकारि काव्यैकजीवितम्।।
कृन्तक – वक्रोक्तिजीवितम् 1/56

(2) त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कवि सम्मताः।
वाह्यश्चाश्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति।।
वाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।।
– भोज सर० कण्ठा० – 1/49

(3) गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः।
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते।।
– भोज सर० कण्ठा० – पृ० 27

शब्दगत समाधि गुण के समान ही है। इसी प्रकार और्जित्यगुण भी गुण भी वामन के शब्दगत ओज से अभिन्न ही है। इतना होने पर भी निसंदेह सम्मितत्व इत्यादि गुण भोज की नितान्त मौलिक कल्पना है।

मम्मटाचार्यनुसार गुण का स्वरूप

मम्मटाचार्य ने स्वरचित अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ काव्यप्रकाश में दोषों का विवेचन करने के पश्चात् काव्यशास्त्रीय गुणों का भी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए गुणों के स्वरूप तथा उनका (गुणों) का अलंकारों से भेद प्रतिपादित किया है। काव्यप्रकाशकार गुणों का स्वरूप वर्णित करते हुए कहते है कि :– आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान जो (काव्य के) प्रमुख रस के अचलता से स्थित अर्थात् न छोड़े जाने योग्य तथा रस की वृद्धि करने वाले धर्म है, वे गुण कहलाते है।[1] जिस प्रकार से मनुष्य में आत्मा के धर्म शौर्य, औदार्य इत्यादि गुण होते हैं, तथा ये गुण मात्र आत्मा के होते है शरीर के नहीं, ठीक उसी प्रकार ये माधुर्यादि गुण काव्य के आत्मस्वरूप रस के ही होते है शब्दार्थों के नहीं। अतः वर्णों को जो मधुरादि व्यवहार होता है वह लाक्षणिक प्रयोग मात्र है। काव्य गुणों को रस का धर्म मानने में गुणों का रसनिष्ठ होना तथा उसकी रस में अचल स्थिति स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। तथापि मम्मट ने कारिका में "अचलस्थितयो" पद का प्रयोग कर गुणों को स्वतः ही रस का धर्म सिद्ध कर दिया है।

जिस प्रकार कहीं किसी व्यक्ति की लम्बी चौड़ी काया को देखकर उसमें शूरता का व्यवहार (ज्ञान) होता है, वहीं किसी अशूर में काया के आधार पर शूरता तथा शूर व्यक्ति में छोटी

आकृति के आधार अशूरता की भ्रान्ति हो जाती है। उसी प्रकार

1) माधुर्यादि गुणों के व्यंजक सुकुमार वर्णों में मधुर।

2) अमधुर गुण भी रस के अंगभूत वर्णों के सुकुमार होने से मधुर।

3) तथा माधुर्यादि रसों के अंगभूत वर्णों के कठोर होने से रस को न समझने वाले अज्ञानी व्यक्ति उसमें अमाधुर्य का व्यवहार करते है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि गुण वस्तुतः रस के ही धर्म है। ये माधुर्यादि गुण उचित वर्णों या शब्दार्थ के द्वारा अभिव्यक्त तो अवश्य होते है, किन्तु वर्णों पर आश्रित नहीं रहते है। इसी प्रकार ग्रन्थकार मम्मटाचार्य ने गुणों का लक्षण तथा स्वरूप निध ारण किया है। इसके अनुसार गुण के स्वरूप निर्धारण में दो धर्म समाविष्ट हो जाते है।

1) रसोत्कर्षत्व 2) रसनिष्ठत्व

अर्थात् काव्यगुण रस के स्थायी धर्म होने के कारण रस का निरन्तर उत्कर्ष करते रहते है अतः गुण रस के धर्म है, शब्दार्थ के नहीं।

(2) गुणों की रस में अविचल स्थिति है।

---

(1) श्लेषादीनामिति श्लेषप्रसादसमता
सौकुमार्य्यार्थव्यक्तिमाधुर्यकान्त्युदारतौजसाम्।
एतद्योगाद्वाक्य वक्ररूपतामासाद्य काव्यव्यपदेशं
लभेत तेषां गुणानां
भंगः काव्याभासत्वपर्य्यावसादी दोषः। सर०
— कण्ठा० टीका पृ० 27

(2) अंलकृतमसंक्षिप्त रसभावनिरन्तम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः लोकरन्जनम्।।
दण्डी — काव्यादर्श 1/15/19

(3) गुण रस में रहकर सदा उसका उपकार किया करते हैं।

मम्मट की गुणधारणा आनन्दवर्धन के गुण सिद्धान्तों का ही परिपालन करती है। उन्होंने ध्वन्यालोक का अनुकरण करते हुए ही गुणों की संख्या मात्र तीन स्वीकार की है। मम्मट ने गुणों को रस का धर्म प्रतिपादित करते हुए माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुण को व्याख्यायित किया हैं। मम्मट की गुणधारणा में सर्वदा मौलिकता के दर्शन होते हैं, जहां उन्होंने प्राचीन आचार्यों के मतों का खण्डन करके अपनी प्रौढ़ समालोचना क्षमता का परिचय दिया है। उन्होंने गुणों के व्यंजक वर्णों का उल्लेख करने के साथ ही गुणों का विभाजन चितवृत्तियों के आधार पर किया। आचार्य मम्मट ने वामन सम्मत दस शब्द गुणों एवं दस अर्थ गुणों का तर्कयुक्त खण्डन करते हुए उनका सन्निवेश तीन ही गुणों में कर दिया है। यद्यपि अलंकारवादी आचार्य गुणों का सन्निवेश अलंकारों के अन्तर्गत ही करते है, तथापि गुणों तथा अलंकारों का भेद तथा गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त दोनों धर्म अलंकारों के नहीं होते। रस के अभाव में भी शब्दालंकारों के उपस्थित रहने पर भी इनमें रसाभिचारित्व नहीं है, तथा वे अव्यभिचारेण रसोपकारक भी नहीं है। अतः अलंकारों में गुणों के उक्त धर्मों की अतिव्याप्ति नहीं होती मुख्यतः तो गुण रस के धर्म है, किन्तु उपचारतः ये गुण शब्दार्थगत भी कहे जा सकते है।

---

(1) ये रसस्यागिनों धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्यितयो गुणाः।।

जयदेव

चन्द्रालोककार जयदेव ने काव्यगुणों की कोई भी सामान्य परिभाषा नहीं की है। उन्होंने भरतादि आचार्यों द्वारा किये गये गुणों के दस भेदों का ही उल्लेख तथा निरूपण चन्द्रालोक में किया है। जयदेव की गुण धारणा का अध्ययन करने से जान पड़ता है कि वह अन्य आचार्यों की अपेक्षा वामन से अधिक प्रभावित थे। उन्होंने अधिकांश परिभाषाओं में वामन की मान्यताओं को ही स्वीकार तथा पुष्ट किया है। जयदेव ने आठ गुणों को ही स्वतन्त्र रूप से स्वीकृति दी है वे गुण है –

1) श्लेष 2) प्रसाद 3) समता
4) समाधि 5) माधुर्य 6) ओज
7) सौकुमार्य तथा 8) उदारता।

चन्द्रालोकाकार ने परम्परागत कान्ति तथा अर्थव्यक्ति नामक गुणों को क्रमशः श्रृंगार रस में तथा प्रसाद गुण में अन्तर्भाव माना है।[1] कान्ति गुण का रस के साथ सम्बन्ध वामन को भी स्वीकार्य था। उन्होंने "दीप्तरसत्व कान्ति" कहकर रस को कान्ति गुण में समाहित कर दिया; किन्तु कालान्तर में भारतीय काव्यशास्त्र में रस का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया तथा काव्यगुण रस की अपेक्षा गौण हो गये।

शायद इसीलिए जयदेव ने गुणों को रस से पृथक् तो नहीं किया, किन्तु कान्ति गुण का रस के एक भेद श्रृंगार रस में

(1) श्रृंगारे च प्रसादे कान्त्यर्थव्यक्तिसंग्रहः
—जयदेव—चन्द्रालोक —4/10

(2) एवंसान्तरेष्वप्युदाहार्यम्।—वामन—काव्यालंकार वृत्ति पृ० 158

अन्तर्भाव कर दिया।

आचार्य वामन के मत को दृष्टि में रखकर काव्यगुणों का अन्तर्भाव श्रृंगार रस में न मानकर यदि सामान्य रस में ही माना जाता है तो अधिक उपयुक्त रहता, आचार्य वामन कान्ति गुण की सत्ता अन्य रसों में भी स्वीकार की थी।[2]

आचार्य जयदेव ने यद्यपि गुणों की त्रिविध सत्ता को स्वीकार नहीं किया तथापि उन्होंने ध्वनिवादी आचार्यों की भांति इन दस गुणों को काव्य में उसी प्रकार आत्मा का धर्ममाना, जिस प्रकार की मनुष्य में शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म होते है।[3]

आचार्य विश्वनाथ के मत के अनुसार गुण का स्वरूप

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में गुणों के स्वरूप का विवेचन अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतानुसार ही किया है।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जैसे मनुष्य के शरीर में मुख्य साररूप आत्मतत्व के धर्म, शौर्य औदार्य, मधुरता, नम्रता इत्यादि गुण कहे जाते है, वैसे ही काव्य रूपी शरीर का सार रूप प्रमुख तत्व रस के धर्म ये माधुर्य, ओज तथा प्रसाद आदि भी गुण कहे जाते हैं।

अभिप्राय ये है कि जैसे समस्त प्राणियों के शरीर संस्थान में अतीव आवश्यक तत्व आत्मतत्व के उत्कर्ष कारक या आत्मतत्व के महत्व की और अधिक बढ़ाने वाले शौर्य, औदार्य, माधुर्य इत्यादि गुण सामान्यतः शब्द से ही प्रतिपादित किये जाते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्दार्थ रूपी शरीर से युक्त काव्य का आत्मा की

भांति अत्यन्त महत्वशाली रस के धर्म माधुर्यादि भी "गुण" कहे गये है। जो कि वास्तव में रस के ही स्वरूप विशेष हैं, तथा इन माधुर्यादि को गुण कहने का औचित्य यह है कि ये गुण ही वह तत्व हैं, जो रसाभिव्यंजक पद समूह को काव्य की कोटी में परिगणित करवाता है अर्थात् रसाभिव्यंजक पदों को "काव्य" कहे जाने का एकमात्र अकेला कारण ये गुण ही हैं। जिसका एकमात्र कार्य अपने आधार "रस" को उत्तरोत्तर बढ़ाना है, व रस का उत्कर्ष करना होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने "काव्यप्रकाश" के "शब्दार्थौ सगुणौं" पद की आलोचना करते हुए स्पष्ट उल्लिखित किया है कि जहाँ रस होंगे, वहाँ गुणों का होना अनिवार्य है तथा रसाभाव में गुणों का भी अभाव अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त गुणों से युक्त शब्दार्थरचना काव्य स्वरूप नहीं भी है, तब भी गुण प्रथम तो काव्य के स्वरूपध ाायक होकर ही उसके उत्कर्षाधारक होते हैं। अतः गुण रस के अभिन्नतत्व है जो सदैव गुण में स्थित रहकर उसका उत्कर्ष किया करते हैं। किन्तु विश्वनाथ गुण को चित्तवृत्तिका हेतु न मानकर चित्तवृत्ति रूप मानकर ही उसका स्वरूप निर्धारण करते है। विश्वनाथ के गुण विषयक सिद्धान्तों पर मम्मट का प्रभूत प्रभाव है। गुणों की संख्या काव्यगत स्थिति आदि की समीक्षा में विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुकरण किया है।

(1) अभी दश गुणाः काव्ये पुंसिशौर्यादयो यथा।

— जयदेव — चन्द्रालोक 4/10

पण्डित राज जगन्नाथ

पण्डित राज जगन्नाथ अन्तिम काव्य शास्त्रीय विद्वान थे। इन्होंने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की समीक्षा नव्यन्याय के सिद्धान्तों के आधार पर की। रसगंगाधर में उन्होंने शब्दार्थ गत दस गुणों तथा रसाश्रित माधुर्यादि तीन गुणों को मानने वाले आचार्यों के मतवैभिन्नय का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के पश्चात् अपने मत की स्थापना की।

प्राचीन आचार्यों के गुण सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर भी पण्डित जी ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा से उनकी समीक्षा की तथा नूतन लक्षण प्रस्तुत किये। जगन्नाथ ने आनन्दवर्धन एवं मम्मट के सर्वमान्य रसाश्रित सिद्धान्त को ही स्वीकार किया। उन्होंने माध ुर्यादि गुणों के विषय निर्धारण से सम्बन्धित तीन मतों का उल्लेख किया है।

प्रथम मत के अनुसार उनका कहना है कि – कुछ विद्वानों का मानना है कि संयोग श्रृंगार में जितना माधुर्य रहता है। उससे अधिक माधुर्य करूण रस में होता है, इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ श्रृंगार में तथा सबसे अधिक माधुर्य करूण से में होता है, इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ श्रृंगार में तथा सबसे अधिक माध ुर्य, शान्त रस में रहता है। रस के माधुर्य उत्तरोत्तर वृद्धि का कारण चित्त का द्रुतिजनक होना है।[1]

द्वितीय मत के आचार्यों का कहना है कि संयोग श्रृंगार की अपेक्षा करूण रस तथा शान्त रसों और सबसे अधिक विप्रलम्भ श्रृंगार में माधुर्य गुण का आधिक्य रहता है।[2]

तृतीय मतावलम्बी कहते है – संयोग श्रृंगार की अपेक्षा

करूण, शान्त तथा विप्रलम्भ श्रृंगार में माधुर्य की अतिशयता तो अवश्य रहती है, किन्तु उपरोक्त में माधुर्य का न्यूनाधिक्य नहीं रहता।[3] प्रस्तुत तीनों मतो में से प्रथम तथा तृतीय मत स्पष्टतः मम्मट की गुण धारण पर ही आधृत है।

मम्मट ने ओज गुण का वीभत्स एवं रौद्र रसों में क्रमशः आधिक्य माना है।[4] इसी से "क्रमशः" पद का भाव माधुर्य गुण में ले लिया गया है। मम्मट ने माधुर्य को संयोग श्रृंगार का गुण कहा है, तथा करूण, विप्रलम्भ श्रृंगार एवं शान्त रसों में माधुर्य की अतिशयिता मानी है।[5]

पण्डित राजजगन्नाथ मम्मट के उपरोक्त मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि करूण एवं शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ श्रृंगार में माधुर्य की अधिकता होने का यदि

(1) तत्र श्रृंगारे संयोगाख्ये यन्माधुर्य ततोऽतिशयित करूणे ताभ्यां विप्रलम्भे तेभ्योऽपि शान्ते, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्त द्रुतेर्जननादिति केचित्। —रसगंगाधर 1/88

(2) संयोगश्रृंगारात्करूणशानतयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भ इत्यपरे। — रसगंगाधर 1/88

(3) संयोगश्रृंगारात् करूणविप्रलम्भशान्तेष्वतिशयितमेव न पुनस्तत्रापि तारतम्यमिति। — रसगंगाधर 1/88

(4) विभत्सरौद्रस्तस्याधिक्यं क्रमेण च। मम्मट काव्यप्रकाश 8/192

(5) करूण विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्
— मम्मट काव्यप्रकाश 8/192

(6) मध्यस्थे तु मते करूणशान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य
माधुर्यातिशये यदि
सहृदयानाम् अनुभवोऽस्ति साक्षी तदा स प्रमाणम् ।
—जगन्नाथ – रसगंगाधर 1/88/89

सहृदय का हृदय साक्षी है, तो वह साक्ष्य ही उसमें माधुर्य की अधि ाकता का प्रमाण है।[6] विप्रलम्भ श्रृंगार में ही माधुर्य की अतिशयिता मानना ही पण्डित ज़ी को अभिष्ट था, जो कि उचित ही है।

जगन्नाथ ने गुण को रस का धर्म मानने वाले मम्मटादि आचार्यों का प्रबल विरोध किया। वस्तुत पण्डित जी वेदान्त दर्शन के निष्णात विद्वान थे। उसकी रस सम्बन्धी धारणाएं इन्हीं वेदान्त सिद्धान्तों पर आधारित थी। गुण के स्वरूप का निर्धारण भी उन्होंने वेदान्त सिद्धान्तों की आधारशिला पर ही किया। पण्डितराज ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के समान रस को काव्य का आत्मतत्व माना, किन्तु गुण को रस का धर्म मानना उन्हें स्वीकार नहीं है, क्योंकि वेदान्त दर्शन में आत्मा को निर्णुन माना गया है। अतः काव्य की आत्मा रस भी निर्गुण ही है। इस सम्बन्ध में पण्डितराज ने कुछ युक्तियां दी हैं।

1) माधुर्य आदि को जो रस का धर्म कहा गया है, उसमें प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष प्रमाण तो यहाँ हो ही नहीं सकता है। किन्तु जगन्नाथ ने –

"दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नमनुभवस्तथा
द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां
रसगतगुणानामननुभवात्।।"1

कहकर माधुर्य आदि गुणों के रसधर्मत्व में अनुमान को भी प्रमाण नहीं माना है। इस सम्बन्ध में यह युक्ति दी जा सकती है कि श्रृंगार इत्यादि रस चित्त की द्रुति आदि वृत्ति के कारण है, अतः श्रृंगार इत्यादि रसों में चित्तवृत्ति का जो कारण है, उसका कोई न कोई धर्म होने का अनुमान आवश्यक है। इस युक्ति का निराकरण जगन्नाथ न इन शब्दों मे कर दिया है

कि –

"तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात्
कारणतावच्छेदकतया गुणानाम्
अनुमानमिति चेत्........................परेण मधुरतरादिगुणानां
प्रातिस्विकरूपेण
द्रुततरत्वादिकार्यतारतम्यस्य प्रयोजकतयाभ्युपगमेन
माधुर्यवत्त्वेन
कारणतायागुरूभूहुतत्वात् इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव
कारणत्वे लाघवम्। किं
चात्मनो निगुर्णतयाहऽऽत्मरूपरसगुणत्व
माधुर्यादीनामनुपपन्नम।"[2]

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि माधुर्य आदि गुण रस का धर्म नहीं है, तब श्रृंगार इत्यादि रस को मधुर क्यों कहा जाता है? पण्डितराज जी का मानना है कि रस और गुणों में प्रायोजक प्रयोग सम्बन्ध है, न कि धर्म–धर्मी या गुण औरं गुणी का। इसी सम्बन्ध में वह "वाजिगन्धा" नामक औषधि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, कि जस प्रकार वाजिगन्धा उष्णता का प्रायोजक होने के कारण उष्ण कही जाती है, उसी प्रकार माधुर्य

(1) पण्डितराज जगन्नाथ – रसगंगाधर 1/89
(2) पण्डितराज जगन्नाथ – रसगंगाधर 1/89–90
(3) तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्ति प्रयोजकत्वं, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा
माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णेति व्यवहारवदक्षतः।
–जगन्नाथ – रसगंगाधर 1/91–92

आदि गुणों के प्रायोजक रस के लिए 'मधुर' व्यवहार होने लगा है।[3] अतः रस तथा गुण में केवल प्रायोजक प्रयोज्य सम्बन्ध ही है।

पण्डिराज की उपरोक्त मान्यता वेदान्त के उस सिद्धान्त में आधारित है, जिसमें आत्मा को निगुर्ण माना गया है, किन्तु कुमारिल भट्ट ने आत्मा के निर्गुणत्व का खण्डन किया है। उन्होंने गुण तथा गुणी में भेदाभेद सम्बन्ध की स्थापना करके आत्मा को सगुण माना हैं यदि आत्मा सगुण है, तब इस स्थिति में रस में गुण की स्थिति मानी जा सकती है। वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त के आलोक में गुणों को रस का धर्म सिद्धि किया जा सकता हैं। माधुर्यादि गुण रति आदि स्थायीभाव के धर्म होते है। अतः उन्हें रस में भेद की सिद्धि करने वाली उपाधि के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए।

पण्डितराज जगन्नाथ की गुण सम्बन्धी धारणाओं का अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है। यद्यपि पण्डित जी ने गुणों के सन्दर्भ में नवीन एवं मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की। परन्तु काव्यगुणों को रस का धर्म मानने वाला ध्वनिवादी का सिद्धान्त ही अधिक सटीक एवं उपयुक्त है।

गुण तत्व का महत्व एवं उपयोगिता

काव्य में मनुष्य के विचारों तथा भावों का समन्वित स्वरूप समाविष्ट रहता है। सामान्य शब्दों में भावों तथा विचारों की प्रस्तुत समन्वित का नाम ही काव्य है। यह विचार काव्य के सन्दर्भ में विचार करने वाले भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों प्रकार के विद्वानों का रहा हैं इस निष्कर्ष से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के लिए व्यक्तिगत अनुभूति, विचार, कल्पना तथा काव्यशैली इत्यादि का अत्यधिक महत्व है। काव्यशैली का सम्बन्ध साक्षात् होना स्वाभाविक ही है। इसी स्वाभाविकता को प्रतिपादित करते हुए काव्यशास्त्र में प्राचीन काल से ही काव्य गुणों तथा दोषों का विस्तृत विवेचन मिलता है। वस्तुतः काव्यगुणों से विभूषित काव्य ही उत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय माना जाता है। इस मान्यता से स्पष्ट है कि काव्य में गुणों का महत्व अप्रतिम है। काव्य गुणों के महत्व को सविस्तार प्रतिपादित करना ही प्रस्तुत अध्याय का मुख्य विवेच्य विषय है।

भारतीय वाङ्मय में काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा विद्यमान है। भारतीय आचार्यों ने काव्य शास्त्रीय विषयों का जितना सूक्ष्म, गहन, गम्भीर तथा विशद विवेचन किया है, उतना अन्यत्र मिलना दुलर्भ है। संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र का विधिवत् विवेचन प्रारम्भ करने का श्रेय यद्यपि आचार्य भरतमुनि को दिया जाता है, तथापि उनसे पूर्व भी काव्यशास्त्र की परम्परा विद्यमान होने की

(1) अग्निपुराण – (काव्यशास्त्र मार्गदर्शन) पृ० 121

सूचना स्वयं उनके ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होती है। भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में नाट्य के विविध अंगों का विस्तृत विवेचन किया है। इसी विवेचन में यत्र तत्र इस प्रख्यात काव्यशास्त्रीय परम्परा की प्राचीनता का पता भी चलता है।

आचार्य भरत के पश्चात् प्रख्यात आचार्य भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, उदभट्, का अलंकारसारसंग्रह, वामन का अलंकार सूत्रवृत्ति, रूद्रट का काव्यालंकार, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर का काव्यमीमांसा, कुन्तक का वक्रोक्तिजिवित, धनजय का दशरूपक, मम्मट का काव्यप्रकाश, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, पं० राजजगन्नाथ का रसगंगाधर आदि कुछ ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जो काव्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा को प्रख्यात बनाने के साथ–साथ काव्य में प्रयुक्त होने वाले विविध काव्य तत्वों का सूक्ष्म से सूक्ष्मतर चिन्तन प्रस्तुत करते हुए उनके स्वरूप तथा महत्व पर पर्याप्त प्रकाश डालते है।

कहने का अभिप्राय यह है कि भरतमुनि से पूर्व विद्यमान काव्यशास्त्रीय परम्परा विधिवत् रूप में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होती है और प्रागैतिहासिक काल से प्रारम्भ हुयी यह काव्यचिन्तन की परम्परा कई शताब्दियों की विचारधारा को आत्मसात् किये हुए आचार्य पं० राजजगन्नाथ तक ही विराम को प्राप्त नहीं होती है। अपितु अत्याधुनिक प्रगतिमान युग के प्रख्यात समालोचक आचार्य पं० रेवा प्रसाद द्विवेदी द्वारा विरचित काव्यालंकारकारिका के रूप में 21वीं शताब्दी में प्रविष्ट करती

हुयी जान पड़ती है। इस सुदीर्घ परम्परा में उपलब्ध साहित्य शास्त्रीय विषय सामग्री काव्य के अन्य तत्वों की भाँति गुण तत्व पर भी व्यापक प्रौढ़ एवं गम्भीर विवेचना प्रस्तुत करते है। इस ऐतिहासिक विश्लेषण से ही स्पष्ट हो जाता है कि काव्यशास्त्रीय गुणों का विशिष्ट स्थान है।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा जिन काव्यतत्वों की विवेचना प्रस्तुत की गयी है, वह सामान्य दो रूपों में उपलब्ध होती है।

प्रथम पक्ष के रूप में काव्य के बाह्य रूप पर चिन्तन किया गया है और द्वितीय पक्ष के अन्तर्गत काव्य के आन्तरिक रूप अर्थात् काव्य की आत्मा को खोजने का भी अद्भुत प्रयास किया गया है। इस उपलब्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि कतिपय आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय गुणों को काव्य के बाह्य रूप के अन्तर्गत ही परिगणित किया हैं कतिपय आचार्यों के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि उन्होंने काव्य की आत्मा के रूप में जिस रसादि तत्व को स्वीकृत किया है, उसी रसादि तत्व के धर्म के रूप में काव्य गुणों को स्वीकार किया है।

इस स्वीकृति पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि काव्यशास्त्रीय गुण केवल काव्य के वाह्यांग के रूप में ही काव्य को उपकृत नहीं करते है, बल्कि वे अर्थात् काव्यगुण काव्य के आन्तरिक स्वरूप अर्थात् काव्यात्मा के रूप में प्रथित रसादि का धर्म बनकर भी काव्य को उपकृत करते हैं। इस मूल्यांकन से काव्यशास्त्रीय गुणों का महत्व निर्विवाद एवं स्वतः सिद्ध हो जाता है।

विविध आचार्यों के सिद्धान्तों के मूल्याकंन स्वरूप प्रस्तुत प्रस्तुति का अभिप्राय यह है कि काव्य की आत्मा रसादि तत्व है और गुण ही उसका मुख्य धर्म होता है। इसलिये आचार्यों ने रसोत्कर्ष हेतुरूप स्थायी धर्मों के गुण के नाम से अभिमण्डित किया है। अग्निपुराण में भी इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हुए गुण के महत्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा गया है कि –

"यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।"

उपयोगिता :–

भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में गुण को निःसंदेह स्वीकार किया है, किन्तु भरतमुनि द्वारा स्वीकृत प्रस्तुत गुण स्वीकृति प्रत्यक्ष रूप में न होकर पक्षान्तर रूप में की गयी है। उन्होंने काव्य में गुणों की स्वीकृति को दोषों के अभाव रूप में स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार दोषों के अभाव को ही गुण कहा गया है।

उन्होंने गुण की उपयोगिता स्पष्ट करते हुए लिखा है कि माधुर्यादि गुण वाचित अभिनय को समृद्ध एवं प्रभावशाली बनाते हैं। इस दृष्टिकोण से काव्यगुणों की उपयोगिता स्वतः व्यक्त हो जाती है। भरत के अनुसार दोषाभाव के रूप में माधुर्यादि जो गुण काव्यशैली को समृद्ध करते है, वे परम्परया रस के आश्रित ही

(1) व्यासमुनि – अग्निपुराण 10/1

(2) सरस्वतीकण्ठाभरण – राजकिशोर सिंह
– काव्यशास्त्र के सिद्धान्त – पृ० 145

होते हैं। इस तरह गुणों की उपयोगिता काव्यात्मा रूप रसाभिव्यक्ति के सन्दर्भ में भी नितान्त उपयोगी सिद्ध होती है।

आचार्य दण्डी ने गुणों को पृथक रूप से स्वीकृति नहीं किया है, बल्कि अलंकारों के अन्तर्गत ही उन्हें सम्मिलित किया है। उन्होंने माधुर्यादि गुणों को रीतियों का विभाजक माना है। उनके विवेचन के अनुसार रीति विभाजक काव्य गुण काव्य को अलंकार की तरह ही मण्डित करते है, अतः वे अलंकार रूप ही है।

यद्यपि दण्डी का प्रस्तुत व्यक्तव्य काव्यशास्त्रीय गुणों की अपरिहार्यता प्रत्यक्ष रूप में नहीं दर्शाता है, तथापि उनके कथन का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि वे भी काव्य में गुण की अनिवार्यता को काव्यशोभा के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार करते है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यगुण को काव्य सौन्दर्य के आवश्यक उपादान के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। अग्निपुराणकार काव्यगुणों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते है कि –

"अलंकृतमपि प्रीत्ये न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।।"[1]

अग्नि पुराण की इसी मान्यता को कालान्तर में भोजराज ने और अधिक पुष्ट किया। गुणों के विषय में भोजराज का मत था – कि अलंकृत होने पर भी गुणरहित काव्य सुनने योग्य नहीं है।

"अलकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः।"[2]

इस प्रकार भोजराज भी गुणों को काव्य में मुख्य तथा आवश्यक

मानते हैं।

सारांश रूप में निःसंकोच कहा जा सकता है कि काव्य गुणों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यही है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रत्येक सम्प्रदाय ने काव्य की आत्मा भले ही किसी भी तत्व को माना हो, किन्तु काव्यगुणों को गौरवमय पद पर ही आसीन किया है।

संस्कृत के ही नहीं वरन् हिन्दी साहित्य के समीक्षकों ने भी काव्य में गुणों का महत्व स्वीकार किया है। उन्होंने अपने काव्य को सरस तथा सुन्दर बनाने के लिए गुणों का प्रयोग किया। यद्यपि गुण सम्बन्धी मान्यताओं के लिए उन्होंने संस्कृत के ही आचार्यों का अनुकरण किया तथापि आचार्य चिन्तामणि ने गुणों के विषय में अपने मूल विचार व्यक्त किये। उन्होंने माधुर्य गुण को "काव्य का सार–तत्व" माना[1] तथा समस्त गुणों में माधुर्य गुण को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। इसके अतिरिक्त रस की अभिव्यक्ति का मूल कारण होने के कारण प्रसाद की श्रेष्ठता भी असन्दिग्ध है।

निष्कर्ष रूप में शब्दार्थगत गुण काव्य में शब्द तथा अर्थ को सुशोभित करते हुए रस का उत्कर्ष करते है तथा रसगत गुण तो रस का साक्षात् उत्कर्ष करते ही है। अतः गुण काव्य उत्कृष्टता के प्रमुख हेतु हैं।

(1) चिन्तामणि – कविकल्पतरू 1/14 पृ० 3

तृतीय अध्याय

गुण के भेद

गुण तत्व के भेद

समस्त काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा एकमत से स्वीकार किया गया तथा काव्य के आत्मत्व रूप रस का अपरिहार्य अंग जो गुण नामक तत्व है, उसके विभिन्न विद्वान समालोचकों तथा अलंकार शास्त्रीय आचार्यों ने अनेकशः भेद निरूपित किये है। इनमें दो प्रमुख मत विकसित होते हैं।

प्रथम :– प्रथम मत के अन्तर्गत काव्य शास्त्र के सर्वप्राचीन तथा गुणों के प्रवर्त्तक आचार्य भरत मुनि है, जिन्होंने गुणों की संख्या दस (10) मानी है। इन्हीं आचार्य भरत के पथानुगामी अर्थात् मत का अनुकरण आचार्य वामन, दण्डी तथा अभिनवगुप्ताचार्य करते है।

द्वितीय मत का प्रवर्त्तन आचार्य भामह ने किया इस मत के अनुसार काव्य गुणों की संख्या मात्र तीन है।

आचार्य भामह के मतानुसार काव्य में केवल तीन ही गुणों की कल्पना की गयी है इन तीन गुणों में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज को परिगणित किया गया है। आचार्य भामह ने भरतमुनि तथा दण्डी आदि आचार्य द्वारा प्रतिपादित दस गुणों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया है। इनका मत प्रथम मत से सर्वथा भिन्न है। भामह के अनुसार गुणों की संख्या 10 नहीं अपितु 3 ही है।[1]

आगे चलकर आचार्य भामह के इस काव्य के त्रिविध गुणों के मत का अनुकरण ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने भी किया। इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त भूमिका से स्पष्ट होता है कि काव्य गुणों के

सन्दर्भ में दो परस्पर निरपेक्ष तथा भिन्न मतों का उद्भव तथा उत्तरोत्तर विकास हुआ। जिसमें एकमत का प्रवर्त्तन आचार्य भरत ने किया तो द्वितीय मत का आचार्य भामह ने।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के गुणभेद नामक तृतीय अध्याय के क्रमिक अध्ययन में पहले काव्यं गुणों के प्रथम मत (जिनके अनुसार गुणों की संख्या दस है।) का सुविस्तृत विवेचन तथा उपरांत काव्य गुणों के द्वितीय मत को स्वीकार करने वाले आचार्यों द्वारा प्रतिपादित गुणों के भेदों की सुविस्तृत व्याख्या तथा दोनों मतों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जावेगा।

भरतमुनि कृत गुण के भेद

नाट्यशास्त्र प्रणेता तथा संस्कृत नाट्य वाङ्मय के प्रथम आचार्य भरतमुनि ने गुणों को दोषों के अभाव या विपर्यय रूप में प्रतिपादित किया है। इनके मतानुसार काव्य में दोषों का न होना ही गुण है। भरतमुनि ने काव्यगुणों के जो 10 भेद स्वीकार किये है, उसका विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है। आचार्य भरत ने जिन दस काव्यगुणों को मान्यता दी है उनमें श्लेष गुण प्रथम है। यद्यपि भरत ने स्पष्ट रूप से गुणों का विभाजन नहीं किया है। तथापि उनके द्वारा निरूपित गुणों का विश्लेषण करने पर ज्ञान होता है कि उनके दस गुणों में से कुछ केवल शब्दगत है कुछ अर्थगत तथा कुछ उभयागत गुण है। शब्दगत गुणों में प्रसाद, माधुर्य, ओज, समता, अर्थगुणों में अर्थव्यक्ति, उदारता, समाधि तथा शब्दार्थगत युगल गुणों में श्लेष कान्ति तथा सौकुमार्य गुणों

(1) भामह – काव्यालंकार 1/1

को रखा जा सकता है।

श्लेषगुण :–

भरतमुनि के अनुसार एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित तथा इच्छित (अभीष्ट) अर्थ को उत्पन्न करने वाले जो श्लिष्ट पद होते हैं, उन पदों के इस मसृणबन्धयोग को ही श्लेष गुण कहा जाता है।[1] इसके अतिरिक्त जहाँ पद या शब्द में एक अद्भुत तथा गम्भीर विचारों की अर्थधारा स्वतः ही प्रस्फुटित होते रहती हैं, वहाँ पर भी श्लेष काव्यगुण का अस्तित्व माना गया है। अतः भरतमुनि ने प्रथम श्लोक में जहाँ पद एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित है शब्द श्लेष तथा जहाँ विचारों की गहनता अर्थ के साथ प्रस्फुटित हो रही हो अर्थ श्लेष माना गया है। इस प्रकार भरत मुनि का श्लेष गुण शब्द एवं अर्थ दोनों से उभयागत गुण है।

प्रसाद गुण :–

आचार्य भरत ने प्रसाद नामक गुण को इस प्रकार सुस्पष्ट किया है – अत्यन्त सरल तथा उपयुक्त शब्दार्थों का प्रयोग होने के कारण जहाँ बिना किसी कठिनाई या क्लिष्ट कल्पना के ही शब्द स्वयं ही अपने अर्थ को स्पष्टतः प्रकट करने लगते है, वहाँ

(1) नाट्यशास्त्र 17/96 पृ० 301

(2) नाट्यशास्त्र 17/98 पृ० 302

(3) विभक्त वाच्यवाचक योगादनुक्तयोरपि शब्दार्थयोः
प्रतिपत्तिः प्रसाद इति भरतः पदपूर्विका
तदर्थावगतिरिति शब्दाथर्ययोः ग्रहणम्।
हेमचन्द्र काव्या० व्याख्या पृ० 234

प्रसाद गुण समझना चाहिए।[2] हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में भरत के गुण लक्षण की आख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार पृथक–पृथक स्फुट रूप से रहने वाले शब्द अर्थ के योग से जहाँ अकथित शब्दार्थ की भी प्रतिपत्ति हो जाती है, वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है अर्थात् जहाँ पद से ही उनके अर्थ की प्रतीति होने लगती है प्रसाद गुण होता है यहाँ शब्द के साथ अर्थ का भी ग्रहण किया गया है।[3]

भरत द्वारा प्रसाद गुण की जो व्याख्या की गयी है, उसके निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते है कि सरल से सरलतम शब्द प्रयोग की विधि ही प्रसाद काव्यगुण कहलाती है। मम्मट आदि आचार्यों ने भी प्रसाद गुण को काव्यगुण के रूप मे मान्यता दी है।

समता गुण :–

अचार्य भरतमुनि काव्य के समता नामक भेद की व्याख्या करते हुए लिखते है कि – जिस स्थल पर शब्दों में परस्पर समानता दृष्टिगोचर होती है, समता नामक गुण समझना चाहिए।[1] कहने का अभिप्राय है कि काव्य में समास रहित पदों का प्रयोग किया गया हो, शब्द अर्थ से पूर्ण तथा सरलता से बोध किये जाने योग्य होने चाहिए। इस प्रकार सुगम पदों से युक्त रचना को समता नामक गुण से ओतप्रो समझना चाहिए। समता गुण में चूंकि ऐसे शब्दों का प्रयोग अपेक्षित है जो कि असमस्त एवं सुबोध हो अतः समता को शब्दगुण मानना ही तर्कसंगत है। प्रसाद गुण जहाँ अर्थ की विमलता अपेक्षित है। वहीं समता में केवल निष्प्रयोजनता का ही नहीं वरन् दुर्बोधता का परित्याग भी

आवश्यक होता है। आचार्य वामन ने समता गुण को वृत्ति के अन्तर्गत अन्तर्भाव कर लिया है।

समाधि :–

"उपमाद्युनदिष्टानामर्थानां यत्नस्तथा
प्राप्तानाचापि संक्षेपात् समाधिर्निणयो यतः।।"[2]

अभीष्ट अर्थ की प्रतीति के लिए उपमा इत्यादि से अभिव्यक्त तथा प्राप्त विषयों का समासादि से सुसम्बद्ध प्रयोग जिस रचना में हो, वहाँ समाधि गुण होता है। हेमचन्द्र के अनुसार जहाँ अर्थ पर गुणान्तर का आधान होता है वहाँ भरत समाधि गुण मानते है।[3] हेमचन्द्र भी भरत की भाँति ही समाधि गुण में अर्थ के वैशिष्टय पर बल देते है। अतः समाधि को अर्थगुण के अन्तर्गत परिगणित किया जाना चाहिए। किन्तु अभिनव गुप्त ने समाधि गुण में शब्दगुणत्व दिखलाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार समाधि शब्द का अर्थ है परिहार। उससे परिकीर्तित अर्थात् स्पष्ट रूप से उच्चारण सम्पन्न होना शब्दगत समाधि गुण है। वामन ने भी (स्वर) के आरोह अवरोह क्रम को समाधि गुण मानकर

(1) नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः।
दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता।।
– नाट्यशास्त्र 98/302

(2) नाट्यशास्त्र प्रक्षिप्त कारिका 99 पृ० 303

(3) अर्थस्य गुणान्तर समाधनात्समाधिरिति भरतः
हेम० काव्या० व्याख्या पृ० 236

(4) आरोहावरोहक्रमः समाधिः।
वामन काव्यालंकार सू० 3/1/13

(5) नाट्यशास्त्र प्रक्षिप्त कारिका 99 पृ० 303

शब्दगुण समाधि की कल्पना की है।[4] अभिनवगुप्तपाद ने भी इसे शब्द का गुण प्रतिपादित किया है।

माधुर्य :–

किसी वाक्य की बार–बार आवृत्ति होने तथा अनेक बार उच्चारण किये जाने पर भी जब किसी प्रकार का उद्वेग अथवा बेचेनी हृदय में उत्पन्न नहीं होती है। तब इस प्रकार की अलौकिक विचित्रता को उत्पन्न करने वाली मंजुल पदावली का प्रयोग माधुर्य गुण कहलाता है।[5] ध्वनिवादी आचार्यों ने भी माधुर्य गुण का स्वीकार किया इसका विस्तृत निरूपण किया है। माधुर्य गुण के उदाहरण रूप में हम अभिज्ञान शाकुन्तलम् के "गाहन्तां महिषा सलिलम्"[1] इत्यादि पद को ले सकते है। जहाँ पदबन्ध दीर्घ समास रहित हो माधुर्य गुण माना जाता है क्योंकि दीर्घ समास युक्त रचना संशयास्पद तथा विपर्ययास्पद होती है। अतः दीर्घसमासरहित रचना में ही माधुर्य गुण होता है। यह शब्द माधुर्य होता है।[2]

ओज :–

नाट्यशास्त्र में ओज गुण के दो अलग–अलग लक्षण प्राप्त होते हैं प्रथम पाठ के अनुसार ओज में पदों के गुम्फन एवं वैत्त्रिय उनकी उदारता एवं सानुरागता का होना आवश्यक माना गया है।

"समासवभ्दिर्बहुभिर्विचित्रैश्च....................परिकीर्त्यते।"[3]

जिस रचना में शब्द लम्बे–लम्बे समासों से युक्त हो, पद स्वयं में कुछ विचित्रता सी धारणा किये हुए हो, किन्तु उन पदों के अर्थ उदार तथा सानुराग हो, वहाँ ओज गुण का प्रयोग होता है जैसे–

"विलुलितमकरन्दा मंजरीर्नयन्ति।।"

द्वितीय पाठ के अनुसार :– जहाँ गर्हित एवं हीन वस्तु भी शब्द एवं अर्थ की सम्पत्ति से उदात्त बन जाती है उसे ओज गुण कहा जाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र की भरत के अवगीतोऽपि लक्षण के अनुरूप ही ओजगुण का स्वरूप मानते है। आचार्य मम्मट ने भी गुणत्रय मे ओज गुण को मान्यता दी है। एक अन्य अर्थ के अनुसार शब्द और अर्थ की समृद्धि से जो रचना हीन होने पर भी उदात्त अर्थ की प्रतीति करवाने वाली होती है, वहाँ भी ओज गुण ही हौता है।

सौकुमार्य :–

जहाँ सुख से प्रयोग में लाये जाने योग्य पदों की योजना होती है। जहाँ सुग्रथित सन्धियाँ होती है एवं जो सुकुमार अर्थ से युक्त होता है वहाँ सौकुमार्य गुण माना जाता है।[4] अतः परूष वर्णों का परित्याग सौकुमार्य गुण में आवश्यक हैं। यहाँ अर्थ के कठोर होने पर भी कोमल पदों का प्रयोग किया जाता है। यथा–एकाकी के लिए देवतासहाय पद का प्रयोग।

शब्दगत एवं अर्थगत कठोरता होने पर भी सुकुमार कोमल पदयोजना का नियोजन किया जाना ही सुकुमार्य नामक गुण है।[5]

(1) कालिदास – अभिज्ञान शाकुन्तलम् पृ० 2/6
(2) ना० शा० 9 अ० भा० पृ० 339
(3) नाट्यशास्त्र 17/101
(4) सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते।।
– नाट्यशास्त्र 17/102

यथा – मृत व्यक्ति के लिए भी विगत या मरा हुआ के स्थान पर यशः शेष पद का प्रयोग करना सुकुमारता है। दण्डी तथा हेमचन्द्र ने सौकुमार्य को शब्दगुणों के अन्तर्गत परिगणित किया है। हेमचन्द्र ने संक्षेप में भरत के मत को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सुखद शब्द एवं अर्थ को भरत सुकुमार गुण मानते हैं।[1]

अर्थव्यक्ति :–

जिस रचना विशेष में काव्य अथवा नाट्य व्यापार में सुप्रसिद्ध अर्थ का अतिशय प्रसिद्ध शब्दों द्वारा ही पद संयोजना की जाती है, वहाँ अभिव्यक्ति नामक काव्यगुण होता है।[2] अन्य पाठ के अनुसार जहाँ वाणी से पद का उच्चारण करते ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है, वहाँ अर्थव्यक्ति नामक गुण होता है। आचार्य भरत ने अर्थव्यक्ति को अर्थगुण माना है, मम्मट तथा विश्वनाथ इत्यादि आचार्य इसे प्रसाद गुण में ही समाविष्ट करते है। आचार्य वामन ने तुरन्त अर्थ को स्पष्ट कर देने वाले शब्द प्रयोग के कारण इसे शब्द गुण के रूप में स्वीकृति दी है।

---

(1) सुखशब्दार्थसुकुमारमिति भरतः। हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० 237
दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता।।
– नाट्यशास्त्र 98/302

(2) सुप्रसिद्धाभिधाना तु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीत्यते।।
– नाट्यशास्त्र 17/103

(3) नाट्यशास्त्र 17/104 यन्मनः श्रोत्रविषयमालादयति हीन्दुवत्।
लीलादर्थोपपन्ना वा तां कान्ति कवयो विदुः।

(4) सतदेवा ग्राम्यमित्यमित्ययैरूक्तम् अ०भा० पृ० 342

उदात्त या उदारता :–

"दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम्।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम्।।"[3]

दिव्यभावों से युक्त श्रृंगार तथा अद्भुत रस से युक्त तथा विभिन्न भावों से परिपूर्ण रचना में उदारता गुण होता है। अभिनवगुप्त भरतमुनि की उक्त परिभाषा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि – "जहाँ मानवीय भावों का भी दिव्यभावों के रूप में चित्रण होता है तथा श्रृंगार एवं अद्भुत से भिन्न रसों के प्रसंग में भी इनका मिश्रण कर वर्णन किया जाता है वहाँ अर्थगुण औदार्य होता है। कुछ लोगों ने भरत की इस उदारता को ही अग्राम्यत्व कहा है।[4] वास्तव में भरत का रसभाव सापेक्ष उदारता गुण अर्थगत गुण ही है। दूसरे पाठ के अनुसार जो पदावली विभिन्न अर्थों से अत्यन्त चतुरता से कहे गये सुन्दर शब्दावली के कारण विचित्र तथा अद्भुत अर्थों को धारण करती है, वहाँ उदात्त गुण होता है।

आचार्य वामन ने उदात्त गुण को ओज में ही समाविष्ट कर लिया है। बाद में मम्मट तथा विश्वनाथ ने भी वामन का अनुकरण किया है।

कान्ति :–

जिस कृति में पात्र द्वारा की जाने वाली श्रृंगार इत्यादि क्रीड़ा का वर्णन पाठक के मन तथा कानों को अति मधुर आह्लादकारी रस का पान कराते हैं, वहाँ कान्ति नामक गुण तत्व होता है। कान्तिगुण में मन को आह्लादित करने वाली लीला आदि चेष्टाओं का वर्णन आवश्यक माना गया है अतः यह भी अर्थगुण ही है। लीला श्रृंगार रस का उद्दीपन विभाव है अतः भावविधान

की सामग्री है। साथ ही उक्त गुण कर्णेन्द्रिय का आह्लादक मानकर इसका शब्दगत सौन्दर्य भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार भरत ने कान्ति गुण को व्यापक रूप दिया है। अभिनवगुप्त कान्तिगुण की व्याख्या करते हुए लिखते है कि श्रृंगार के विभाव स्वरूप लीला आदि चेष्टाओं अलंकार से रमणीय काव्य का जो v FkZeu d ksv kªy kfn r d jaog d·kfUr xqk ; Ør gksk gS[1] अभिनव गुप्त इसे माधुर्य गुण से अभिन्न मानते है। क्योंकि माधुर्य में भी अल्पसमास रचना होती है जो बार–बार पढ़ने अथवा सुनने पर भी मन को उद्विग्न नहीं करती।[2] इसी कान्ति नामक गुण को आचार्य वामन दीप्तरसता की संज्ञा प्रदान करते है।

आचार्य दण्डी

काव्यगुणों के सम्बन्ध में आचार्य दण्डी का नाम अत्यन्त आदरपूर्वक लिया जाता है। गुणों के भेद तथा महत्व की दृष्टि से काव्यादर्श अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अलंकार पथ के अनुयायी होते हुए भी आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में रीति से गुणों का विछिन्न सम्बन्ध स्थापित करते हुए माधुर्यादि गुणों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है।

"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता।"
अर्थव्यक्तिरूदारत्वमोजः कान्ति समाधयाः।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृता।।"[2]

इत्यादि पंक्तियाँ लिखकर आचार्य दण्डी ने गुणों के दस भेदों का उल्लेख तथा निरूपण किया हैं। इन दस भेदों में आचार्य कुछ को शब्दगुण, कुछ को अर्थगुण तथा किसी को उभय गुणों में

विभाजित करते है।

शब्दगुण

शब्दगुणों में आचार्य दण्डी श्लेष, समता, सुकुमारता तथा ओज को परिगणित करते है। अब पहले श्लेष गुण का स्वरूप कथन करते है।

श्लेष गुणः–

अल्पप्राणयुक्त वर्ग जिस वाक्य में बिल्कुल भी न आये हो, वहाँ दण्डी शिलष्ट श्लेष गुण मानते है। अल्पप्राण वर्गों में बाहुल्य से युक्त वाक्य को वर्णशिथिलता कहते है। दण्डी ने इसका उदाहरण वहीं पर दे दिया है।

"मालतीमाला लोलालिलिला।"[1]

अल्पप्राण के अन्तर्गत वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा पंचम अक्षर तथा यरलव आते है। आचार्य दण्डी शब्द गुणों के अन्तर्गत श्लेष गुण को मानते है, किन्तु भोजराज इसको अर्थगुणों में तथा आचार्य विश्वनाथ ओज गुण में समाहित कर लेते है। श्लेष गुण का उदाहरण है–

"मालती दाम लंघित भ्रमरैः।[2]

(1) यन्मनो विषयमाहलादयति यथा श्रृंगार विभावरूपं लीलादि चेष्टालंकार सुन्दरं काव्यार्थरूपं तत्कान्ति गुणयुक्तं तदेव दीप्त रसत्वमित्युक्तमन्यैः अ०भा०पृ० 343

(2) तदेतल्लोके मधुरकाव्यमिति प्रसिद्धम्।
माधुर्यमभ्यस्तपदत्वभुक्तम्।
अ० भा० पृ० 344

(3) काव्यादर्श 1/41/42 पृ० 37

समता:–

बन्ध तीन प्रकार के होते है – 1) मृदु 2) स्फुट एवं 3) मिश्र। इन्हीं तीन बन्धों के आधार पर समता के भी भेद हो जाते हैं, अतः दण्डी का अभिप्राय हैं कि जिस प्रकार के बन्ध से काव्य रचना प्रारम्भ की जावे, उसी बन्ध से समापन हो वहाँ समता गुण समझना चाहिए।

आचार्य दण्डी इन्हीं त्रिविध समता को रीतियों का कारण बताते हैं। उनके अनुसार समता का लक्षण है –

"समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः।।"[3]

विश्वनाथ समता को पृथक् गुण नहीं मानते है। आचार्य मम्मट ने भी काव्य प्रकाश की कारिका 72 की वृत्ति में समता को मार्गाभेदरूप होने से दोष ही माना है, किन्तु आचार्य दण्डी ने समता गुण को ही वैदर्भी, गौड़ी एवं पा□चाली रीतिविभागों का कारण माना है।

सुकुमारता :–

"अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।
बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले।।"1

अर्थात श्रृतिकटुत्वादि दोषों से रहित, अधिकाँशतः कोमल पदावली युक्त वाक्य को सुकुमारता गुण से युक्त समझना चाहिए। दण्डी का विचार है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने सुकुमारता

(1) काव्यदर्श 1/43 पृ० 38/39
(2) काव्यदर्श 1/44 पृ० 39
(3) दण्डी –काव्यदर्श 1/43 पृ० 42

नामक गुण का खण्डन किया है। ये विद्वान सुकुमारता को दोषों के अभाव रूप में ही मानते है। विश्वनाथ, मम्मट आदि विद्वानों ने सुकुमारता का खण्डन किया है तथा उसे गुण स्वीकार नहीं किया है। किन्तु दण्डी का मानना है, कि अर्थ एवं अलंकार के अनतिप्रस्फुट होने पर भी गुण वैचित्र्य काव्य की शोभा में वृद्धि करते है। जैसे निम्न श्लोक में एकमात्र सुकुमारता गुण के कारण ही पद्य सहृदय सामाजिक को आह्लादित करता है। अतः सौकुमार्य को गुण माना जाना ही चाहिए यथा–

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनी।।"[2]

ओज :–

ओज नामक शब्दगुण का लक्षण दण्डी ने "ओजः समासभूयः किया है।[3] वे समास की बहुलता वाले पदों को ओज गुण में समाहित करते है। दण्डी के अनुसार वैदर्भी तथा गौड़ी दोनों ही आचार्य ओज गुण को स्वीकार करते है।

प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्य ओज गुण को शब्द तथा अर्थ दोनों का गुण मानते है। वामन् , भोज, मम्मट आदि ने इसी प्रकार ओज के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये है, किन्तु समास का सम्बन्ध शब्द से होने कारण दण्डी ओज को शब्दगुण मानते है। ओजगुण गुरू वर्णों की बहुलता है।[4] लघु वर्णों की

(1) दण्डी – काव्यादर्श पृ० 55 1/69
(2) दण्डी – काव्यादर्श 1/70 पृ० 56
(3) दण्डी – काव्यादर्श 1/80 पृ० 60
(4) दण्डी – काव्यादर्श 1/81 पृ० 62

बहुलता से या मिश्रित होने के कारण अनेक प्रकार का होता है। आख्यायिका, चम्पू आदि गद्य काव्यों में ओज गुण का प्रयोग प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। दण्डी ओज गुण का उदाहरण देते हैं –

"पयोधरतटोत्संगलग्न सन्ध्यातपांशुका।
कस्य कामातुरं चेतो वारूणी न करिष्याति।।"

अर्थगुण

अर्थगुणों में दण्डी प्रसाद, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति, समाधि। इन पाँचों गुणों की कल्पना करते है जिसका सविस्तार वर्णन इस प्रकार है।

प्रसाद :–

दण्डी प्रसाद गुण को अर्थ गुण में समाविष्ट करते हैं। उनके अनुसार प्रसिद्ध अर्थ अर्थात् जिस वर्ण के श्रवणमात्र से उसका अर्थ प्रकट हो जावें, वहाँ प्रसाद गुण समझना चाहिए।[1]

आचार्य मम्मट विश्वनाथ तथा भोजराज ने भी प्रसाद गुणों की परिभाषायें इसी अर्थ में दी हैं। केवल वामन ने दो विरूद्ध, शिथिलता तथा ओज का मिश्रण प्रसाद गुण माना हैं, उनका मत है कि जिस प्रकार करूण रस प्रधान नाटक को देखने के उपरांत सहृदय सामाजिक को सुख तथा दुःख की प्रतीति एक साथ होती है। उसी प्रकार प्रसाद गुण में शिथिलता तथा ओज का मिश्रण होता है।

अर्थव्यक्तिः–

"अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य।"[2]

जहाँ विवक्षित अर्थ को समझने के लिए अध्याहारादि कष्टकारी

कल्पनाएं नहीं करनी पड़ती, वरन् शब्द स्वयं वाक्य के अपेक्षित अर्थों को स्पष्ट कर देते हैं वहाँ अर्थव्यक्ति होती है जैसे –

"हरिणोद्रधृता। भूः खुरक्षुण्णनागासृगलोहितादुद्धेरिति।"[3]

यहाँ पर समुद्र के लाल होने का कारण विद्यमान है। अन्य आचार्यों ने अर्थव्यक्ति के शब्दगुणों में परिगणित किया है। मम्मट स्वाभेक्ति में तथा साहित्यदपर्णकार अर्थव्यक्ति का प्रसाद में अन्तर्भाव मानते है।

उदारता :–

जिस वाक्य के कथन होने से ही वाक्यार्थ में वर्णनीयवस्तु के चमत्कारी महत्ता की सूचना प्राप्त होती है, वहाँ दण्डी उदारता नामक गुण मानते हैं। काव्य का उद्देश्य चमत्कार होने के कारण दण्डी उदारता गुण को काव्य का जीवन मानते हैं।[4] वाक्य के गुणव्यंजक होने से दण्डी अर्थ गुण मानते हैं। वामनादि विद्वान उदारता को शाब्दी तथा आर्थी दोनों ही मानते हैं, जबकि साहित्यदर्पणकार उदारता का अन्तर्भाव ओज नामक गुण में ही कर लेते हैं।

कान्तिः–

आपामर प्रसिद्ध अर्थ के प्रयोग से तथा लोक में प्रसिद्ध वस्तु का परित्याग न करने के कारण समस्त जनों का प्रिय हो, उस वाक्य को कान्ति गुण से युक्त समझना चाहिए।[1]

(1) दण्डी – काव्यादर्श 1/84 पृ० 62
(2) दण्डी – काव्यादर्श 1/73 पृ० 58
(3) दण्डी – काव्यादर्श 1/73 पृ० 58
(4) दण्डी – काव्यादर्श 1/76 की वृत्ति पृ० 60

यह गुण प्रशंसापरक वाक्यों में बहुलता से पाया जाता है। दण्डी कान्ति को अर्थ गुण मानते हैं। दण्डी स्वयं वैदर्भी मार्ग के अनुयायी थे अतः कान्तिगुण का लक्षण वैदर्भी मार्ग की ही देन है।

समाधि :–

दण्डी समाधि को अर्थगुण मानते हैं क्योंकि समाधि में एक अर्थ दूसरे अर्थ पर आरोपित किया जाता है। दण्डी ने समाधि का लक्षण इस प्रकार किया है।

"अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते तत्र स समाधि स्मृतो यथा।।
कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च।
इति नेत्रक्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः।।"[2]

प्रस्तुत उदाहरण में कुमुदनी तथा कमल की क्रियाओं पर आंखों की क्रिया (मिनीलन एवं उन्मेष) का आरोप किया गया, अतः समाधि गुण है। इसी प्रकार अनेक धर्मों का एक साथ आरोप भी समाधि ही समझना चाहिए।

वामनादि आचार्य की गणना शब्दगुणों के अन्तर्गत करते हैं। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य समाधि को काव्य का गुण न मानकर कवि का गुण मानते हैं किन्तु आचार्य दण्डी का विचार है कि समाधि गुण काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति करने के कारण काव्य का प्राण है, तथा इसीलिए वह काव्य में उपादेय है। गौड़ी तथा वैदर्भी दोनों मतालम्बियों ने समाधि गुण को स्वीकार किया है। तथा समाधिगुण के महत्त्व को अपने काव्यों में सर्वोत्कृष्ट बतलाया है।

उभयगुण

माधुर्य :–

आचार्य दण्डी ने "मधुरं रसवद्"[3] वाक्य को कहकर रस तथा माधुर्य को एक ही वस्तु माना है। किन्तु काव्यशास्त्र के लगभग सभी आचार्य गुणों को साक्षात् अथवा परम्परया रस का उपकारक मानते है। ऐसी स्थिति में माधुर्य गुण को रस रूप कैसे कहा जाए? दण्डी का उत्तर है –

"वाची वस्तुन्यपि रसस्थितिः।"[1]

चूंकि रस शब्द तथा अर्थ दोनों में व्यंजकतया रहता है। अतः माधुर्य का लक्षण रसव्यंजक वर्ण रचनाशालित्व या रसव्यंजकार्थशालित्व होगा।[2] दण्डी ने रस की व्यंजना में विशिष्ट वर्ण विन्यास के ही साधन माना है।

गौड़ सम्प्रदाय के आचार्य श्रुत्यनुप्रास में माधुर्य की स्थिति नहीं मानते है। उनके अनुसार केवल अनुप्रास अलंकार में ही माधुर्य गुण होता है।

अर्थगत माधुर्य :–

"कामं सर्वोऽप्यलंकारों रसमर्थे निषिवतु
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा।।"[3]

दण्डी उक्त कारिका में अर्थमाधुर्य का स्वरूप बताते है। "वाचि वस्तुन्यपि" इत्यादि कहकर दण्डी वाच्यलक्ष्यव्यंग्यात्मक अर्थ में रस की स्थिति मानी है। अतः दण्डी अर्थगत माधुर्य को स्वीकार करते है। दण्डी के मतानुसार यद्यपि अलंकार रस के उद्‌बोधक होते हैं, तथापि वस्तुतः वहीं अर्थ रस को उद्‌बोधक में समर्थ है जिसमें ग्राम्यता नामक दोष का अभाव हो।

इस प्रकार आचार्य दण्डी ने गुणों की संख्या दस मानी है। दण्डी ने गुणों का विवेचन रीति के अनतर्गत किया है तथा वैदर्भ एवं गौड़ी दोनों ही सम्प्रदायों के सिद्धान्त एवं विचारों की कसौटी पर काव्य गुणों की विशद व्याख्या की है।

वामन के गुण भेदों की समीक्षा

आचार्य वामन रीतिवादी आचार्य हैं, किन्तु रीतियों में विशिष्टता का आधान करने वाला धर्म गुण ही है अतः वामन ने गुण को काव्य में उत्कृष्ट स्थान दिया है वैदर्भी को समस्त गुणों से युक्त होने के कारण ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है, ठीक इसके विपरीत गुणों की न्यूनता के कारण ही गौड़ी एवं पाञ्चाली रीति हेय मानी जाती है। वामन ने भरतमुनि के दोषभावरूप गुण को अस्वीकार करते हुए गुणों की भावात्मक सत्ता को स्वीकार किया तथा दोषों को गुणाभाव स्वरूप माना है।[4]

जिस प्रकार दण्डी ने सभी गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राणरूप में स्वीकार किया है उसी प्रकार वामन ने वैदर्भी रीति में ही समस्त काव्यगुणों का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।[1]

वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। अतः रीति की आत्मरूप गुणों को भी काव्य का प्रमुख तथा आवश्यक तत्त्व स्वीकार करते है।

आचार्य वामन ने भरत एवं दण्डी द्वारा स्वीकृत दस गुणों के ही

(1) दण्डी – काव्यादर्श 1/85 की वृत्ति पृ० 63
(2) दण्डी – काव्यादर्श 1/93/94 पृ० 66
(3) दण्डी – काव्यादर्श 1/51 पृ० 45

शब्दगत एवं अर्थगत रूप से बीस भेदकर दिये हैं वस्तुतः भरत एवं दण्डी के गुण विश्लेषण से स्पष्ट ही है कि यद्यपि उन्होंने गुणों का शब्दगत, अर्थगत अथवा युगलगत रूप से विभेद नहीं किया तथापि उन्हें गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत दोनों ही भेद अभीष्ट थे। आचार्य वामन ने भरत एवं दण्डी के गुण लक्षणों में प्राप्त वैशिष्ट्य से ही एकाधिक गुणों की संकल्पना की है तो कहीं–कहीं पर कुछ गुणों के स्वरूप की कल्पना स्वतन्त्र रूप से भी की है।

शब्दगुण

ओज गुण :–

"गाढ़बन्धत्वमोजः।"[2]

आचार्य वामन ने शब्दगत सभी गुणों को बन्धाया पदरचना का गुण माना है। कामधेनुटीका में हर भूपाल ने बन्ध की गाढ़ता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार स्वर्णशलाका को सघनता से गूंथकर घना जाल सा बना लिया गया है उसी प्रकार पदों की सुग्रथित सघन रचना ओज में होती है।

बन्ध अर्थात् पदरचना गाढ़त्व अर्थातसघनत्व (क और च वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण) अक्षरों के संयोग, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपाध्यानीय, अन्त में गुरूत्व तथा समास

(1) दण्डी – काव्यादर्श 1/51 पृ० 45
(2) दण्डी – काव्यादर्श 1/51 की वृत्ति पृ० 45
(3) दण्डी – काव्यादर्श 1/62 पृ० 51
(4) गुण विपर्ययात्मनो दोषाः अर्थतस्तद्वगमः।
वामन का० पाठ 2/1/1

आदि के तारतम्य से स्थित है, वहीं ओज गुण है।[3] आचार्य वामन ने ओज गुण को तीनों रीतियों का सामान्य गुण माना है दण्डी ने भी ओज को सभी मार्गों के गद्य का प्राण स्वीकार किया किन्तु पद्य में वे केवल गौड़ मार्ग में इसे गाह्य मानते हैं। दण्डी का यह मत वामन को अभिप्रेत नहीं था। अतः उन्होंने ओज गुण को तीनों रीतियों के गद्य–पद्य का साधारण गुण मानते हुए ही भामह एवं दण्डी के "समासभूयस्त्व" लक्षण को अस्वीकार कर दिया। वामन की शब्द ओज गुण लक्षण दण्डी के श्लेष गुण लक्षण से प्रभावित दिखलायी पड़ती है। जहाँ दण्डी ने शैथिल्य के अभाव को श्लेष गुण माना है। वामन के बन्ध अर्थात् पदरचना में गाढ़त्व को शैथिल्य के अभाव रूप में माना जा सकता है।

प्रसाद गुण :–

"शैथिल्यं प्रसाद।।[1]

पदरचना का शैथिल्य या शिथिलता प्रसाद गुण कहलाती है। सामान्यतः गुण का विपर्यय दोष माना जाता है। किन्तु वामन ने ओज गुण के सर्वथा विपरीत प्रसाद गुण को विशेष परिस्थिति में दोष न मानकर काव्य गुण माना है। इस शंका का समाधान करते हुए वामन व्यक्त करते है कि शुद्ध रूप से यदि प्रसाद गुण को सिकया जावे तो वह गुण की बजाय शैथिल्य दोष हो जाता है। अतः ओज गुण के मिश्रण से प्रसाद गुण के दोष का परिहार किया गया है। प्रसाद तथा ओज गुण तो परस्पर विरूद्ध है। फिर परस्पर विरूद्ध वस्तु का मिश्रण कैसे होगा?

इस प्रश्न के उत्तर में वामन कहते हैं।

"स त्वनुभवसिद्धः।"[2]

सहृदयव्यक्तियों का अनुभव ही इसमें प्रमाण है।

वामन का कथन है कि ओज तथा प्रसाद परस्पर विरूद्ध गुणों का मिश्रण अनुभव सिद्ध है। अर्थात् जिस प्रकार करूण रस प्रधान नाटक को पढ़कर या सुनकर सुख तथा दुख परस्पर विरूद्ध भावनाओं का एक साथ अनुभव होता है। उसी प्रकार ओज तथा प्रसादगुण कभी समानता की दृष्टि से, कभी परस्पर एक दूसरे से उत्कृष्टता की दृष्टि से अनुभव सिद्ध होते है। आचार्य वामन ने जिन उद्वरणों से विरोधी स्वभाव वाले ओज एवं प्रसाद गुणों में सहस्थिति सिद्ध करने का प्रयास किया है उसका परवर्ती आचार्यों ने खण्डन किया है उन आचार्यों के मत के सार को हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में उदघृत किया है–

हेमचन्द्र का तर्क है कि ओज का विपर्यय प्रसाद गुण नहीं माना जा सकता है क्योंकि करूण रस प्रधान नाटक में प्रेक्षक पहले दुख का अनुभव करता है तथा पुनः रसमग्न होकर सुख की अनुभूति करने लगता है। किन्तु वामन के ओज एवं प्रसाद

(1) समग्र गुणा वैदर्भी 1/2/11
(2) काव्यालंकारसूत्राणि 1/41/5 पृ० 91
(3) बन्धस्य पदरचनाया गाढत्वं कनकशलाकाय व घटना वन्विडित्वम्।
तत्र हेतवः संयुक्ताक्षरत्वं निरन्तर
रेफशिरस्कै वर्णाणां प्रथमाद्वितैतृतीयचतुर्थैः
प्रथमैस्तृतीस्यैश्चसंयोगा
विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्यानीयाः
गुर्वन्तता समासाश्चे त्वेमादयप्तर तमभावेनावस्थिताः
वामन काव्यालंकारा कामधेनुटीका पृ० 72

दोनों गुणों का सह अस्तित्व स्वीकार किया है। तात्विक दृष्टि में सभी रस सुखात्मक होते हैं अतः करूण रस की अनुभूति में सुख–दुखात्मक भावनुभूति को गाढत्व तथा शैथिल्य की सहस्थिति का दृष्टान्त नहीं माना जा सकता है किन्तु वामन के दृष्टान्त का खण्डन हो जाने पर उनकी गुण धारणा को निराधार मानना उचित नहीं है क्योंकि लौकिक जीवन में प्रायः सुख–दुख को सहस्थिति पायी जाती है। सांख्यमत के अनुसार सत्व एवं तमगुण परस्पर विरोधी स्वाभाव के हैं। किन्तु दोनों साथ–साथ रहते हैं। काव्यशास्त्र में भी कुट्टमित नामक नायिका अलंकार में सुख–दुख की युगपत् अनुभूति की कल्पना की गयी है। अतः एक ही रचना में ओज एवं प्रसाद की युगपत स्थिति असम्भावित नहीं मानी जा सकती है। वामन ने भी उत्कर्ष एवं अपकर्ष के आधार पर प्रसाद के तीन भेद किये हैं। कहीं आज की अपेक्षा प्रसाद गुण उत्कृष्ट हो सकता है कहीं इसके विपरीत ओज की उत्कृष्टता होती है तथा कहीं दोनों समान रूप से भी रह सकते हैं।[1]

इस प्रकार आचार्य वामन ने कारिका 6 से लेकर 10 तक में प्रसाद गुण का विशद विवेचन किया है।

श्लेष :–

जहाँ शब्दगत (मृसणतः) अर्थात् सरलता हो वहां श्लेष गुण होता है।[2] अर्थात् मसृणता जिसके विद्यमान रहने पर बहुत से पद

(1) वामन – काव्यालंकार सूत्राणि कारिका 6

(2) वामन – काव्यालंकारसूत्राणि 3/9

(3) अधरापि ग्रहाद दुःखेऽपि हर्षः कुट्टमितम् 7 पृ० 375 हेम० काव्या०

एक ही मालूम लगते है। यथा –

"अस्त्यत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज।"[3]

प्रस्तुत उदाहरण में "अस्ति उत्तरस्यां दिशि" के स्थान पर "अस्त्युत्तरस्यां" पद प्रयुक्त होने पर पढ़ने में एक सा ही प्रतीत होता है। अतः श्लेष शब्दगुण हुआ। वामन के शब्दगत ओज एवं शब्दगत श्लेष में मात्रा इतना ही भेद है कि ओज में पदों का सुसम्बद्ध ग्रंथन होता है तो श्लेष गुण में पदों में एकपदत्व का आभास दिखलायी पड़ता है।

समता :–

रचना के आरम्भ से लेकर अन्त तक जहाँ मार्ग का भेद न हो अर्थात् एक ही शैली का प्रयोग किया जावे, वहाँ समता नामक शब्दगुण होता है। चाहें काव्य मुक्तक हो अथवा प्रबन्ध दोनों ही स्थलों पर मार्गाभेद अपेक्षित हैं। समता गुण में काव्य की शैलीगत एकरूपता है। जिस शैली से काव्य का प्रारम्भ हो उसी से समाप्ति हो, वहाँ समता गुण माना जाता है। गुण को पद रचना पर आश्रित मानने के कारण वामन ने दूसरे दृष्टिकोण से विचार नहीं किया है मुक्तक काव्य में जहाँ सामान्यत एक ही भाव की अभिव्यक्ति होती है वहाँ शैलीगत एकरूपता को गुण माना जाता है। अतः मुक्तक में वामन के समता गुण को स्वीकार करना चाहिए। किन्तु प्रबन्ध में जहाँ नाना सुख दुःखात्मक भावों का वर्णन अपेक्षित है, वहाँ एक ही रीति का निर्वाह गुण नहीं माना जा सकता है क्योंकि प्रबन्ध में एक ही रस का वर्णन दोष माना जाता है। इस आधार पर सर्वत्र वामन के मार्गाभेद

समता का खण्डन उचित नहीं है क्योंकि एक भाव के वर्णन में समान रीति का निर्वाह ध्वनिवादी आचार्यों को भी रूचिकर प्रतीत होगा।

समाधि :–

वामन समाधि का लक्षण कहते है कि पद रचना के उतार चढ़ाव का क्रम ही समाधि नामक गुण तत्व है। समीक्षाकारों का कहना है कि समाधि गुण पृथक नहीं है, क्योंकि आरोह एवं अवरोह तो ओज तथा प्रसाद गुण के ही स्वरूप है। इसका उत्तर सिद्धान्तकार देते हैं, कि समाधि गुण के आरोह अवरोह ओज तथा प्रसाद के स्वरूप नहीं हैं, बल्कि समाधि में ओज तथा प्रसाद गुण मिश्रित है तथा ओज तथा प्रसाद गुण में आरोह अवरोह का होना अनिवार्य भी नहीं है।

अतः समाधि स्वतन्त्र तथा विशेष गुण तत्व है। केवल तीव्र ओज और तीव्र प्रसाद ही आरोह अवरोह स्वभाव के है तथा तीव्रत्व का कारण समाधि है। वामन भरत के समाधि गुण सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वामन ने भरत के समाधि गुण को अतिश्योक्ति अलंकार का एक भदेमात्र मान लिया है।

माधुर्य :–

वामन की दृष्टि में पदों का पृथक–पृथक होना ही माधुर्य गुण हैं अर्थात् जहाँ पदों में दीर्घ समासों का अभाव हो, वहाँ माधुर्य नामक गुण तत्व माना जाता है।[2] वामन की माधुर्य गुण

(1) वामन काव्या पृ० 22

(2) मसृण्त्वं श्लेषः – काव्यालंकारसूत्राणि 11

(3) कवि कालिदास – कुमारसंभवत् प्रथम सर्ग श्लोक 1.

धारणा भामह के सिद्धान्त से प्रभावित जान पड़ती है। भामह भी दीर्घ समास रहित रचना को ही मधुर मानते थे। परन्तु वामन भरतमुनि की माधुर्य विषयक गुण धारणा से सहमत नहीं थे। हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में उदघृत किया है कि – भरत के अनुसार अनेक बार सुने जाने पर भी जो वाक्य श्रोता के उद्विग्न न करें वह माधुर्यगुण युक्त होता हैं। ऐसी स्थिति में प्रिय–व्यक्ति के रूखाई से कहे गये वाक्य परूष अक्षर युक्त होने पर भी अनुद्वेजक होते है। अतः वामन ने भरत के मत को अस्वीकार किया है। परवर्ती ध्वनिवादी आचार्य जिनकी दृष्टि में गुण रसश्रित है, उनके विचार में समासयुक्त एवं समास रहित दोनों ही पदावली में माधुर्य गुण की सत्ता हो सकती है।

सौकुमार्यम् :–

"अजरठत्वं सौकुमार्यम्"[3]

वामन के श्रुतिसुखद पदावली की योजना को सौकुमार्य गुण माना है। उनके मतानुसार–पदो में जरठ अर्थात् कठोरता या परूषता का अभाव होना सौकुमार्य नामक शब्द गुण है। परवर्ती आचार्यों ने सौकुमार्य को श्रुतिकटुत्व दोष का अभावमात्र मानकर उसे माधुर्य का ही एक भेद स्वीकार किया है माधुर्य में पृथक पदता होने पर उसे वामन ने श्रुतिसुखद पदावली का ही गुण माना है। अतः दोनों गुण श्रुतिमाधुर्य होने में एकसमान प्रभाव को उत्पन्न करते हैं। वामन दोनों में तनिक सा रूपगत भेद मानते है। माधुर्य समासरहित पदावली के कारण श्रुतिमधुर होता हैं जबकि सौकुमार्य कोमलकान्त पदों के प्रयोग से श्रुतिमधुर होता है।

उदारता :–

पदरचना की विकटता उदारता नामक गुण कहलाता है।

"विकटत्वमुदारता।"

जहाँ पद के प्रथमादि अक्षरों का पदान्तरों के प्रथमादि अक्षरों की समानता ही विकटता है। जो उदारता का लक्षण है। अर्थात वामन ने शब्दगत उदारता को "विकटत्व" कहकर उसका स्पष्टीकरण शब्द के नृत्य–प्रायत्व या लीलायामांनत्व के रूप में किया है।[1] एक पद के अक्षरों का दूसरे पद के अक्षरों से समानता होना अनुप्रास अलंकार से भिन्न नहीं है। हेमचन्द्र इस अमसृण अनुप्रास को गुण नहीं मानते, वे इसे ओज गुण का ही एक भेद स्वीकार करते हैं "सोऽमीषदमसृणोऽनुप्रासभावो न गुणः ओजः प्रकार एवं अयम्। हेम० काव्या० व्याख्या पृ० 23 (2)

अर्थव्यक्ति :–

अर्थ के शीघ्रातिशीघ्र अर्थज्ञान का कारण अर्थव्यक्ति नामक शब्दगुण है। अर्थात् जहाँ पद को पढ़ने मात्र से सहज ही अर्थज्ञान हो जाए, वहाँ अर्थव्यक्ति नामक गुण तत्व समझना चाहिए।

"यथा अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज।"[3]

ऐसा प्रतीत होता है। कि वामन ने प्रसाद गुण से भिन्न करने के लिए अर्थव्यक्ति को "झटित्यर्थ प्रतिपत्तिहेतुत्वं" तथा प्रसाद को

(1) सोऽयमतिशयोक्तिविशेष इति वामनीयाः
हेम काव्यानु० व्याख्या पृ० 236

(2) पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। 3/1/21

(3) वामनकृत – काव्यालंकार सूत्राणि 3/1/21

''शैथिल्यात्मा'' मान लिया है। हेमचन्द्र के अनुसार दण्डी वामन ने अर्थव्यक्ति गुण को प्रसाद गुण ही का एक रूप मानते हैं।

कान्तिः–

आचार्य भरत एवं दण्डी की कान्तिगुणधारणा से भिन्न वामन ने कान्ति गुण के स्वतन्त्र स्वरूप की कल्पना की है। पदरचना की नवीनता ही कान्ति नामक अन्तिम शब्दगुण है। यदि पदों में कान्ति नामक गुण न हो तो, नवीन रचना भी पुरानी रचनाओं की पदछाया मात्र बनकर रह जायेगी, अतः रचना में कान्ति नामक गुण तत्व की आवश्यकता होती है। वामन ने शब्द कान्ति को औज्जवल्य कहा है। पद में कान्ति गुण के अभाव में वह पुराने चित्र के समान लगने लगता है।

''औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुण विशारदाः पुराण चित्रस्थानीय'' वामन पृ० 82(4)

वामन भरत की कान्ति गुण धारणा को माधुर्यगुण से अभिन्न मानते हैं किन्तु हेमचन्द्र दण्डी के मत को उदधृत करते हुए लिखते हैं कि ''यदि वामन के मतानुसार औज्जवल्य को कान्ति को माना जाता है। तो ओज का कान्ति में अन्तर्भाव हो जाता है तथा ओज गुण का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह सकता।

(1) बन्धस्य विकटत्वं यदवसाबुदारता।
यस्मिनसति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति

(2) ताद्विकटत्वम्। लीलायमानवान्त्यर्थः वामन काव्यालंवृत्ति पृ० 80

(3) कालिदास – कुमारसंभव 1/1

अर्थगुण

वामन शब्द गुणों उपरांत अब अर्थगुणों को विवेचन करते है। शब्दगुणों की ही भांति अर्थगुणों की संख्या भी दस ही हैं, तथा अर्थगुणों के नाम भी शब्दगुणों के समान ओज, प्रसाद, समता, समाधि आदि ही है किन्तु उनके लक्षण शब्दगुणों सर्वथा भिन्न हैं। अतः वाच्यवाचक भेद से अब क्रमशः अर्थगुणों का विवेचन करते हैं।

ओजगुण :–

अर्थ की प्रौढ़ता ओज नामक अर्थगुण है।

"अर्थस्य प्रौढ़िरोजः।"1

वाच्य अर्थात् अर्थ की यह प्रौढ़ता पाँच प्रकार की है।

1) पदार्थ वाक्यवचन – पदार्थ में वाक्य का कहना।

2) वाक्य के अर्थ को कहने के लिए पद का प्रयोग।

3) विस्तारपूर्वक किसी अर्थ का कथन करना।

4) समास में किसी अर्थ का कथन करना।

5) किसी भी अर्थ को विशेष अभिप्राय से युक्त करके कथन करना।

हेमचन्द्र साभिप्रायत्व ओज अर्थगुण का खण्डन करते हुए उसे अपुष्टार्थ दोष मानते है। उनका तर्क है कि अर्थ तो जड़ है फिर उसका अभिप्राय कैसा? यदि यह साभिप्रायत्व वक्ता या श्रोतागत है तो उसे काव्य का गुण क्यों माना जाए? अतः साभिप्रायत्व प्रौढ़ि वस्तुतः वक्तागत होती है। किन्तु हेमचन्द्र का उक्त तर्क सबल प्रमाणों पर आधारि नहीं है क्योंकि साभिप्रायत्व को अपुष्टार्थ दोष

मानना भ्रान्तियुक्त प्रतीत होता है। वामन साभिप्रायत्व को मुख्यार्थ का उपकारी मानते हैं जबकि मुख्यार्थ का अपकार होने पर अपुष्टार्थ दोष माना जाता है।[2]

प्रसाद गुण :–

विविक्षित अर्थ के प्रतिपादक पद द्वारा जहाँ अर्थ सुस्पष्ट होकर लक्षित हो वहा प्रसाद नामक अर्थगुण होता है। कुछ आचार्य ओज गुण के पंचम प्रकार साभिप्रायत्व तथा प्रसाद गुण को एक ही मानते है तथा कहते है कि प्रसाद तथा साभिप्रायत्व के अर्थ में कोई भेद नहीं है।

वामन इसका खण्डन करते है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों में परस्पर परिहार है। जैसे –

''रविविगलित बन्धे केशपाशे सुकेश्याः''

में सुकेश्या के स्थान पर 'कृशांग्या' पद रखने पर प्रसाद गुण तो होता है किन्तु साभिप्रायत्व नहीं रहता। इसीक प्रकारकहीं पर साभिप्रायत्व के दर्शन होते हैं, किन्तु वहाँ प्रसाद गुण नहीं होता, अतः दोनों में भिन्न–भिन्न गुण भेद है। अनेक विशेषताओं से वामन का प्रसाद अर्थ गुण भरतमुनि के समता गुण से साम्य रखता है। हेमचन्द्र वामन के अर्थगुण समता को अधिकपदत्व दोष का अभावमात्र मानते है।[1] किन्तु यह मान्यता वामन के गुण सम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है। क्योंकि वामन ने गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की है तथा दोनों को गुणें के अभावरूप

(1) वामन – काव्यालंकारसूत्रणि

(2) अत्रापुष्टत्वं मुख्यार्थअनुपकारीत्वम्

– सा० दर्पण विश्वनाथ पृ० 480

में प्रतिपादित किया है।

श्लेष :–

अर्थ श्लेष को वामन ने घटना कहा है।[2] घटना पद का अर्थ वामन ने क्रम कौटिल्य अनुल्वणत्व उत्पत्ति योग किया है। क्रम का अर्थ विषयवस्तु का निश्चित क्रम से वर्णन करने को कहा गया है। अतः विविध कार्यों का क्रमपूर्वक कथन, चमत्कारिक कुटिलता, उत्तम वर्णन तथा सुन्दर युक्तियों से युक्त पद विन्यास का होना घटना कही जाती है, तथा यही घटना श्लेष नामक अर्थगुण कही जाती है। शूद्रक आदि कवियों के काव्यों में श्लेष अर्थगुण काफी विस्तार देखा गया है। भोज ने भी सरस्वती कण्ठाभरण में शब्दभेद से अर्थश्लेष के स्वरूप व्याख्या में वामन के मत को स्वीकार किया है। रत्नेश्वर ने घटना पद की जो व्याख्या दी है, उससे वामन का मत स्पष्ट हो जाता है। रत्नेश्वर के अनुसार "अघटमानस्येव वाक्यार्थस्य बुद्धि चातुर्येण घटनामिति वाक्यार्थः अर्थात वाक्य का जो अर्थघटित न होता हो उसे बुद्धि चातुर्य से घटित कर देना 'घटना' है।

समता :–

वामन ने काव्यालंकार सूत्र में अर्थसमता के दो लक्षण दिये हैं – प्रथम अवैषम्य तथा दूसरे में उसे सुगमता कहा गया है। जिस रचना में विषमता का अभाव हो तथा आरम्भ की गयी शैली का ही पूरे पद्य में प्रयोग किया गया हो समता नामक अर्थगुण है अथवा अवैषम्य अर्थात् अर्थज्ञान में सुगमता का होना ही विषमता का अभाव है। जैसे "अस्त्युत्तरस्यां दिशि।"[3] सुगमता

का उदाहरण है।

"का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।

मध्य तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्।।"[1]

सुगमता का प्रति उदाहरण है।

समाधि :–

किसी रचना में अर्थ का स्पष्ट दर्शन समाधि नामक अर्थ गुण है। वामन ने समाधि को अर्थदर्शन अथवा अर्थदृष्टि कहा है।[2] समाहित चित्त से अर्थ का दर्शन होने के कारण इसे समाधि कहा गया है। ये अर्थ दो प्रकार के होते हैं।

1) अयोनि 2) अन्यच्छायायोनि अर्थ।

अयोनि :–

कवि द्वारा अपनी कल्पना तथा प्रतिभा से रचित कृति अयोनि होती है।

अन्यच्छायायोनि :–

जहाँ अन्य किसी काव्यरचना की छाया लक्षित होती हो अर्थात् किसी अन्य कवि की रचना से प्रभावित होकर उसके भावों को ग्रहण कर जब कवि काव्यरचना करें, तब वह कृति अन्यच्छायायोनि के अन्तर्गत आती है।

इसके अतिरिक्त समाहित चित्त से बोधगम्य अर्थ – व्यक्त तथा सूक्ष्म से दो प्रकार का होता है। व्यक्त अर्थ अत्यन्त स्पष्ट

(1) तच्चाधिकपदत्वदोष निराकरणात्स्वीकृतमेव
हेम० काव्या० व्याख्या पृ० 235

(2) घटना श्लेषः – वामन काव्यालं – 3/2/4

(3) कुमारसंभवम् – कालिदास

अर्थ वाला होता है किन्तु सूक्ष्म अर्थ अत्यन्त गूढ होता है। इसलिए काव्यालंकारसूत्रकार वामन सूक्ष्म अर्थ के पुनः दो भेद करते है।

1) भाव्य 2) वासनीय या दर्शनीय

यह सूक्ष्म अर्थ भाव्यशीघ्र निरूपण से ज्ञात हो जाता है जबकि वासनीय अथवा दर्शनीय अर्थ को ज्ञात करने के लिए चित को अधिक एकाग्र करना होता है। इस प्रकार जहां विभिन्न अर्थभेदों के द्वारा अर्थों का स्पष्ट दर्शन होने लगे वहाँ समाधि नामक अर्थगुण है। वामन का अर्थगुण समाधि को काव्यगुण न मानकर कवि प्रतिभा का गुण मानना युक्तिसंगत हैं। क्योंकि अर्थबोध काव्य का आवश्यक धर्म है। अतः अर्थ बोध करने के लिए चित की एकाग्रता भी आवश्यक ही है। अतः कवि जितना प्रतिभाशाली होगा। पाठक का चित्त उसकी रचना में उतना ही समाहित होता जाएगा। मम्मट ने वामन की अर्थगुण समाधि का खण्डन करते हुए लिखा है कि अयोनि एवं अन्यच्छायायोनि अर्थ से रहित काव्य की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है, अतः अर्थदर्शन रूप समाधि को गुण नहीं माना जा सकता। हेमचन्द्र ने भी मम्मट का अनुकरण करते हुए समाधि अर्थ गुण को गुण नहीं माना है। क्षेमेन्द्र कविकण्ठाभरण तथा राजशेखर ने अर्थबोध की इस प्रक्रिया

(1) अभिज्ञानशाकुन्तलम – कालिदास
(2) अर्थदृष्टि : समाधिः – वामन काव्या० 3/2/7
(3) अर्थस्यायोजेरूयच्छज्ञयोनेवी यदि न भवति दर्शनम्
तत्कथं काव्यं।
इत्यर्थ दृष्टिरूपः समाधिरपि न
गुणः। मम्मट काव्यप्रकाश 8 पृ० 195–96

को कवि का गुण मानकर विचार किया है।

माधुर्य :-

अर्थगुण माधुर्य का स्वरूप 'उक्तिवैचित्र्य' कहा गया है।[1] उक्ति वैचित्र्य अर्थात् वर्णन करने की नवीनता अथवा विचित्रता जिस कथन में हो, माधुर्य नामक अर्थगुण है। इसी उक्ति वैचित्र्य रूप वक्रोक्ति को कुन्तक ने तो काव्य के प्राण रूप में स्वीकार किया है। अलंकार सम्प्रदाय में उक्तिवैचित्र्य को सभी अलंकारों का मूल माना गया है।

सौकुमार्य :-

वामन ने सौकुमार्य को अपारूष्य कहा है।[2] परूष अर्थ की भी कोमल अभिव्यक्ति ही सौकुमार्य अर्थगुण है। अमांगलिक अथवा घबराहट को उत्पन्न करने वाले परूष अथवा कठोर पदों का प्रयोग न करके अन्य कोमल पदों का कथन करना सौकुमार्य नामक अर्थ गुण है। जैसे-मृत के लिए यशःशेष या एकाकी व्यक्ति के लिए -देवता ही जिसका सहायक है जैसे शब्दों का प्रयोग करना सौकुमार्य नामक अर्थगुण के उदाहरण हो सकते हैं। जहाँ कठोर अर्थ को व्यक्त करने के लिए भी कोमल पदों की योजना की जाती है। हेमचन्द्र अर्थ सौकुमार्य को पर्यायोक्ति अलंकार के अन्तर्गत परिगणित करते हैं क्योंकि पर्यायोक्ति अलंकार में काम्य अर्थ का उक्ति विशेष से कथन होता हैं अतः सौकुमार्य अर्थगुण का पर्यायोक्त में अन्तर्भाव हो सकता है।[3]

उदारता :-

अग्राम्यत्वमुदारता अर्थात् ग्राम्यत्व (अर्थात देहाती) को कहने वाले प्रसंग में भी ग्राम्य शब्दावली का प्रयोग न करके अश्लील

पदों का कथन करना उदारता नामक अर्थगुण है। अतः उदारता अंर्थगुण को परवर्ती आचार्य गुण न मानकर ग्राम्यत्व दोष का अभावरूप ही मानते हैं।

अर्थव्यक्ति :–

वस्तु स्वभाव की स्फुटता को वामन अर्थव्यक्ति अर्थगुण मानते है।[4] यह काव्य की शब्दचित्त का गुण है। इसमें काव्य में व्यक्त अर्थ का प्रत्येक अवयव पूर्णरूप से प्रकाशित होने लगता हैं अतः वस्तुओं अथवा भावों के स्वभाव का जहाँ वस्तु के सम्पूर्ण विशेषों के साथ स्पष्ट वर्णन किया गया है, वहाँ अर्थव्यक्ति नामक अर्थगुण है।

कान्ति :–

श्रृंगार इत्यादि नवरस जिस रचना में दीप्त हो तो रचना दीप्तरस कहलाती है। जिसका भाव दीप्तरसत्व होता है। यही दीप्तरसत्व कान्ति नामक अर्थगुण है। इसमें वियोग के साथ संयोग श्रृंगार या फिर इसी प्रकार विरूद्ध रस पूर्वक रस की दीप्तता होती है। इस प्रकार वामन ने कान्ति अर्थ गुण के अन्तर्गत रस की परिकल्पना की है। दण्डी, भामह आदि आलंकारिक आचार्यों ने रसवत् अलंकार कहकर रस की गणना अलंकारों के

(1) उक्तिवैचित्र्यं माधुर्य। वामन काव्यालंकार 3/1/11

(2) अपारूष्यं सौकुमार्य। वामन काव्यालंकार 3/1/12

(3) सीडयमंगला रूपाश्लीलत्वदोषाभावो गुणः।
यदि वा उक्तिविशेष पर्यायोक्तालंकार विषय
एवासौ – हेम काव्यानु० पृ० 236

(4) वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। वामन काव्या० 3/1/14

अन्तर्गत की थी। वामन ने रस को काव्य के आवश्यक धर्म गुणों के धरातल पर अवस्थित किया। हेमचन्द्र ने वामन के कान्ति गुण का खण्डन करते हुए लिखा है कि – रौद्रादि रस तो दीप्त रस है। इनके विपरीत श्रृंगारादि कोमल रस अदीप्त है अतः दीप्त रसों में कान्तिगुण को स्वीकार करने पर श्रृंगारादि कोमल रस तो कान्तिहीन हो जायेंगे। वामन ने अपनी वृति में दीप्ति रसत्व का अर्थ वस्तुतः सभी रसों की प्रकर्षवस्था किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि – श्रृंगारादि रस जहाँ दीप्त रहते है, वहाँ कान्तिगुण रहता है।[1]

कान्ति अर्थगुण में वामन ने भरतमुनि के कान्तिगुण लक्षण को स्वीकार नहीं किया है। किन्तु भरतमुनि की उदारता गुण लक्षण से वामन का कान्ति गुण प्रभावित जान पड़ता है।

इस प्रकार वामन ने गुणों के बीस (20) भेद किये है। इस शब्दगुण तथा दस अर्थगुण वामन काव्य में गुणों को अनिवार्य मानते है उनके अनुसार –

"गुणानां दशतामुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम्।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः।।"[2]

अर्थात जिस काव्य दश शब्द तथा दश अर्थगुणों से रहित है, वह काव्य विचार के अयोग्य तथा निःसार है। गुणों की विशदता तथा पूर्णता को काव्यपाक अर्थात् श्रेष्ठकाव्य कहते है। अतः एक श्रेष्ठ कवि को अपनी काव्य रचना में गुणों का ठीक–ठीक प्रयोग अनिवार्य रूप से करना चाहिए तभी यह उत्तम काव्यरचना की श्रेणी में आ सकती है।

रूद्रट

स्पष्टतः तो आचार्य रूद्रट ने काव्यालंकार में गुणों के स्वरूप एवं भेदों के विषय में कोई वर्णन नहीं किया है। केवल काव्यालंकार ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में हमें सुन्दर वाक्य के कुछ लक्षण उपलब्ध होते है।[3] और इन्हीं लक्षणों को टीकाकार नमिसाधु ने वाक्य गुण कहा है। यहीं वाक्यगुण रूद्रट की गुण धारणा के निदर्शन कह जा सकतें है। ये वाक्य गुण निम्नलिखित है :–

अन्यूनाधिकवाचकत्व :–

अभीष्ट अर्थ के ज्ञान के लिए जितने पद अपेक्षित हो उतने ही शब्दों का प्रयोग होना अन्यूनाधिकवाचकत्व कहा जाता है। न्यूनपदता या अधिकपदता को अलंकारशास्त्रियों ने काव्य का दोष माना हैं इस प्रकार यह वाक्य गुण इन दोनों दोषों का विपर्यय कहा जा सकता है। नमिसाधु के अनुसार इस गुण का अभाव होने पर न्यूनपदता के कारण दुष्ट अर्थ की प्रतीति तथा अधिकपदता के होने पर कहे गये पद की अन्य पद से भी उक्ति होने पर पुनरूक्ति दोष हो जाता हैं। नमिसाधु ने इस गुण में अतिशय न्यूनता तथा अतिशय अधिकता का ही निषेध किया है।[1] पद के थोड़ा सा ही न्यून होने पर भी यदि विवक्षित अर्थ की प्रतीति हो जाती है, तो पद की न्यूनता दोषरहित ही है।[2] रूद्रट का वह वाक्य गुण वामन तथा दण्डी के अर्थव्यक्ति एवं प्रसाद शब्दगुणों के समकक्ष ही प्रतीत होता है।

सुक्रमत्व :–

सुक्रम अर्थात् पदों का सम्यक् क्रम। वाक्य में पदों का परस्पर सम्बद्ध होना तथा उनका उसी निश्चित क्रम से प्रयोग किया

जाना सुक्रमत्व गुण है।

पुष्टार्थत्व :–

यह गुण अपुष्टार्थ दोष का विपर्यय है। इस गुण में केवल उन्हीं पदों का प्रयोग किया जाता है जो अर्थ की पुष्टि करते हो। स्टेवेन्सन ने भी वाक्य की यौक्तिक सुसम्बद्धता को शैली का गुण माना है।[3] यह गुण रूद्रट के अन्यूनाधिकवाचकत्व से बहुत अधिक अलग नहीं है।

चारूपदत्वं :–

चारूपदत्व गुण को नमिसाधु के दुःश्रवत्व दोष का विपर्यय ही माना है।

क्षोदक्षमत्व :–

नमिसाधु ने इस गुण का अर्थ गार्म्भीय युक्त किया है।

अक्षुण्णत्व :–

नमिसाधु ने सम्पूर्ण दोषों के परित्याग तथा समस्त गुणों के संकलन से सम्पन्न वाक्य की परिपूर्णता को अक्षुण्णत्व नामक गुण माना है।[1]

रूद्रट ने विशेष रूप से वाक्य की सुन्दरता पर बल दिया है तथा पदों की चारूता में सभी गुणों का समावेश स्वतः ही हो जाता है।[2]

(1) दीप्तारसा श्रृंगारदियों यस्य स दीप्तरसाः/
वामन काव्या० पृ० 95

(2) वामनकृत – काव्यालंकारसूत्राणि 3/2 पृ० 124

(3) अन्यूनाधिकवाचक सुक्रम – पुष्टार्थशब्दचारूपदम्
क्षोदक्षमक्षणं सुमतिर्वाक्य प्रयुञ्जीत्।। रूद्रट काव्या० 2/8

कुन्तक

विभिन्न आचार्यों द्वारा किये गये काव्यगुणों के भिन्न–भिन्न भेदों का अध्ययन करते हुए हम देख चुके हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र में गुण सम्बन्धी मुख्यतः दो धाराएं प्रवाहित हुयी –

पहली धारा में वह आचार्य है जिन्होंने गुणों को शब्दार्थगत माना तथा उनके दस या उससे अधिक भेद स्वीकार किये।

दूसरी धारा में वह आचार्य है जिन्होंने गुणों को रस के आश्रित मानकर उसके मात्र तीन भेदों को मान्यता दी।

आचार्य कुन्तक का मत इन दोनों ही धाराओं से स्वतन्त्र रहा। उन्होंने गुणों का विभाजन असाधारण गुण तथा साधारण गुणों में किया। उनके गुणों के नाम भी अन्य आचार्यों से भिन्न ही रहे हैं।

कुन्तक ने भी रीति का आधार गुणों को मानते हुए रीति के अन्तर्गत ही गुणों का उल्लेख किया। आचार्य दण्डी के समान कुन्तक ने भी रीति के लिए मार्ग पद अभिहित किया। उन्होंने सुकुमार विचित्र एवं मध्यम तीन मार्गों का उल्लेख कर उन्हीं के साधारण एवं असाधारण गुणों का वर्णन वक्रोक्ति जीवितम् में

(1) निग्रहणादधिकमात्रं साध्वेव। रूद्रट – काव्यालंकार – नमिसाधुकृत टीका पृ० 11
(2) निशब्दग्रहणाद्यत्र विनापि पदमसाधारण विशेषणोपादानान्तदनुरूपकारकप्रयोगाद्वा विवक्षितपदार्थप्रतीतिस्तदूनमात्रं साध्वेव।
– रूद्रट काव्यालंकार
– नमिसाधुकृत टीका पृ० 11
(3) डॉ० वी० राघवन–भोज–श्रृंगार प्रकाश Vol. 1 पृ० 307

किया है –

पहले हम इन तीनो मार्गों के साधारण गुणों का विवेचन करेंगे। तत्पश्चात सभी मार्गों के असाधारण गुणों की मीमांसा करेगें।

साधारण गुण

कुन्तक ने सुकुमारादि मार्गों के साधारण गुणों के अन्तर्गत दो गुणों का उल्लेख किया है।

1) औचित्य 2) सौभाग्य

इन दो गुणों को पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्ध का गुण कहा गया है।[3] यह गुण तीनों मार्गों में साधारण रूप में रहते है।

औचित्य :–

औचित्य नामक गुण की कुन्तक ने दो परिभाषाएं दी है –

1) स्वभाव के अनुकूल वर्णन करने वाला गुण औचित्य कहा जाता है।[1]

2) कुन्तक का मानना है कि जहाँ वक्ता तथा भावक के स्वभाव से प्रतिपाद्य वस्तु रमणीयता के साथ आच्छादित कर दी जाएं वहाँ भी औचित्य गुण माना जाता है।[2]

क्षेमेन्द्र को इन दोनों में से औचित्य का प्रथम स्वरूप ही मान्य था। यद्यपि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व आत्मतत्व स्वीकार किया है। दण्डी, भामह आदि आचार्यों ने औचित्य को गुण तो नहीं माना किन्तु उसे गुण दोष निर्धारण का अनिवार्य तत्व माना है। इसलिए बच्चे तथा उन्मत्त व्यक्ति की उक्ति में अपार्थ आदि दोषों का परिहार हो जाता है।

सौभाग्य :–

जहाँ औचित्य पदगत गुण है, वहीं सौभाग्य को अर्थगत सौन्दर्य माना गया है। अपनी रचना के अर्थ को सफलतापूर्वक व्यक्त करना ही कवि का परम उद्देश्य होता है। जिसके लिए कवि अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों का चयन करता है। कुन्तक सौभाग्य गुण की परिभाषा करते हैं कि:–

इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थ प्रतिभा कवेः।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते।।[3]

सौभाग्य गुण का कुन्तक ने विस्तृत विवेचन किया है। इसी सौभाग्य गुण का कुन्तक ने दूसरा लक्षण भी दिया है कि प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति इत्यादि समस्त काव्य तत्वों से शब्ददि उपादेय पदार्थों में जो जो निर्मल छटा बिखरती है। उससे उत्पन्न एवं सहृदय सामाजिक को आनन्दित करने वाला सौभाग्य काव्य का प्राणभूत गुण है।[4]

इस प्रकार कुन्तक ने समस्त काव्यतत्वों के सटीक प्रयोग से जो अद्वितीय सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है उसे सौभाग्य गुण में निहित कर लिया है। यहीं नहीं उन्होंने इस गुण को काव्य का प्राणभूत तत्व तक स्वीकार कर लिया है। ऐसे में प्रश्न उठता है

(1) अक्षूणमिति। समस्तदोषत्यागात् समस्तगुणसंग्रहाच्चपरिपूर्णम्।
—रूद्रट—काव्यालंकार—नमिसाधु टीका पृ० 12

(2) सत्यमपि सकलयथोदितपदगुणसाम्येऽभिधानेषु।
रचना चारूत्वे खलु शब्दुगुणः संनिवेशचारूत्वम।।
—रूद्रट—काव्यालंकारनमिसाधु टीका 2/9/10

(3) कुन्तक—वक्रोक्ति जीवितम् 1/57

कि यदि सौभाग्य काव्य की आत्मा है तो वह गुण का एक भेद कैसे हो सकता है? कुन्तक ने सौभाग्य गुण का विवेचन गुणों के आधार रूप में न करके गुण के भेद में क्यों किया? अतः यही युक्ति संगत जान पड़ता है कि सौभाग्य को काव्यगुणों के आधार रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए गुण भेद में रूप में नहीं। औचित्य एवं सौभाग्य गुणों की व्याख्या कुन्तक की व्यापक गुण धारणा का निदर्शन है। इन दोनों गुणों में कुन्तक ने समस्त काव्यसौन्दर्य को समेट लिया है। साधारण गुणों का विवेचन करने के पश्चात् हम अब कुन्तक के असाधारण गुणों का विश्लेषण करेंगे।

असाधारण गुण

असाधारण गुणों को कुन्तक ने चार वर्गों में विभाजित किया है।

1) माधुर्य 2) प्रसाद 3) लावण्य 4) आभिजात्य

कुन्तक के अनुसार ये चारों गुण सुकुमारादि तीनों मार्गों में भिन्न–भिन्न प्रकृति के होते है। अतः हम पहले सुकुमार मार्ग के गुणों का परीक्षण करेंगे। सुकुमार मार्ग में सुन्दर शब्दार्थ से युक्त कृत्रिमतारहित रसमय काव्य का सृजन होता है। यह मार्ग दण्डी के वैदर्भ के समान ही है।

सुकुमार मार्ग के गुण :–

माधुर्य :–

कुन्तक ने माधुर्य गुण को प्रमुख गुण माना है। उनके अनुसार माधुर्य गुण को समासरहित, मनोहारी और पद रचना के वैचित्र्य से युक्त कहा गया है।[1] कुन्तक ने मनोहारी पद के दो अर्थ किये है।

1) श्रुतिमधुर होना 2) चारू अर्थ से पूर्ण होना

कुन्तक के माधुर्य का असमस्तत्व वामन के पृथक् पदत्व शब्दमाधुर्य के ही समकक्ष है। इस माधुर्य की श्रुतिमधुरता आचार्य भामह के श्रव्यत्व के ही समान जान पड़ती है। दण्डी ने भी माधुर्य के श्रुत्यनुप्रास भेद में कुन्तक की इसी मान्यता को प्रस्तुत किया है। कुन्तक ने माधुर्य में अन्तिम तत्व पद विन्यास की विचित्रता को माना है। डॉ० वी० राघवन इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि –

"असमस्तत्व और श्रुतिरम्यत्व को मिलाने से शब्दमाधुर्य और अर्थचारूत्व तथा पदविन्यासवैचित्र्य के अर्थमाधुर्य का सृजन होता है।"[2]

पदवैवित्र्य को आचार्य भरत ने ओजगुण का लक्षण माना है। कुन्तक का पदवैचित्र्य भी भरत के पदवैचित्र्य से मिलता है।

प्रसाद :–

रस एवं वक्रोक्ति के विषय में अत्यन्त सरलता से अर्थ को

---

(1) आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान जीवितम्।।
–कुन्तक – वक्रोक्ति जीवितम 1/53

(2) यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
अच्छाद्यते स्वभावेन तदायौचित्यमुच्यते।।
– कुन्तक –वक्रोक्ति जीवितम 1/54

(3) कुन्तक–वक्रोक्ति जीवितम् 1/55

(4) अलौकिक चमत्कारकारि काव्यैकजीवितम्।
– कुन्तक –वक्रोक्ति जीवितम 1/56

व्यंजित कर देने वाला शीघ्रता से अर्थ का प्रतिपादन करने वाला गुण प्रसाद गुण कहा जाता है।[1] कुन्तक ने अपनी वृत्ति में लिखा है कि प्रसाद गुण में समस्त पदों का अभाव, विख्यात अर्थ की प्रतिपादकता, अर्थ के साथ पद का व्यवधानरहित सम्बन्ध और समास के होने पर भी अर्थ को स्पष्ट कर देने वाली समासयुक्तता परमार्थ है।[2]

कुन्तक की यह गुण धारणा अपने प्राचीन आचार्यों के गुण सम्बन्धी विचारों से मिलती जुलती ही है। कुन्तक ने आचार्य भामह के समान प्रसाद गुण में दीर्घ समास के अभाव पर जोर दिया है। इसी प्रकार प्रसिद्ध अभिधानत्व में उनके विचार दण्डी के 'प्रसिद्धार्थपदत्व' से अलग नहीं है। इसी प्रकार रस में सुन्दर अर्थों को व्यक्त करने वाला शीघ्र अर्थ समर्पण ध्वनिकार के प्रसाद गुण के समान है।

लावण्य :–

सुकुमार शब्द और अर्थ के सुन्दर सन्निवेश के सौन्दर्य को लावण्य गुण कहा गया है।[3] कुन्तक लावण्य गुण का लक्षण करते है कि–

वर्णविन्यासविच्छित्ति पदसन्धानसम्पदा।
सवल्पया बन्धसौन्दर्य लावण्यमभिधीयते।।[4]

लावण्यगुण में कुन्तक ने सम्भवतः छन्द के बाह्य सौन्दर्य को रेखांकित किया है। जिसके श्रवणमात्र से ही श्रोता को आनन्द की अनुभूति हो जाती हैं। कुन्तक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य सुकुमारता गुण को गुण के भेद रूप में नहीं स्वीकारा है

तथापि लावण्य गुण में सुकुमार शब्द का अर्थ को अपेक्षित माना है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के सुकुमार गुण का अन्तर्भाव कुन्तक के लावण्य गुण में ही हो जाता है।

अभिजात्य :–

श्रुतिपेशलताशाली, हृदय को सुखद स्पर्श सा करता हुआ, स्वभाव से मृसण छायांवाला बन्ध अभिजात्य गुण है।[5]
इस प्रकार आभिजात्य में श्रुतिमधुरता, हृदय को स्पर्श की योग्यता एवं स्वभाव की कोमलता गुण अपेक्षित है।

कुन्तक का आभिजात्य गुण माधुर्य गुण से अधिक भिन्न नहीं है। माधुर्य एवं आभिजात्य के अन्तर को आचार्य बलदेव उपाध्याय ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है–

"लावण्य से वर्णों की झंकार अभिप्रेत है और आभिजात्य से कदाचित् उसकी स्निग्धता या मसृणता। एक में वर्ण परस्पर झनक कर क्वणन सा करते है, दूसरे में परस्पर घुलते ढुलकते चले जाते है।"[1]

विचित्र मार्ग :–

माधुर्य :–

विचित्र मार्ग का माधुर्य सुकुमार मार्ग के माधुर्य से सर्वथा भिन्न हैं। इस मार्ग में माधुर्य गुण का प्रयोग वैदग्ध्य प्रदर्शन के लिए होता है, जो शैथिल्य का त्याग करके बन्ध सौन्दर्य का अंग बनता

(1) असस्तमनोहारिपदविन्यास जीवितम्
माधुर्य सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः।
– कुन्तक – वक्रोक्ति जीवितम् 1/30

(2) डॉ० वी० राघवन भोज श्रृंगार प्रकाश Vol. 1 पृ० 351

है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कुन्तक कहते है कि – इस मार्ग में वैचित्र्य का सम्पादक करने वाला माधुर्य पदों में प्रयुक्त किया जाता है। वह कोमलभाव को छोड़कर रचना के सौन्दर्य का उपकरण बन जाता है।[2]

प्रसाद :–

कुन्तक ने प्रसाद गुण के दो लक्षण दिये है। पहले लक्षण के अनुसार कुन्तक कहते है–

गमकान्ति निबन्ध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराव्यापि
पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः।।[3]

दूसरे लक्षण के अनुसार प्रसाद गुण को किञ्चित ओज मिश्रित असमस्तपदता कहा गया है।[4] अर्थात् प्रसाद गुण में समास रहित रचना की प्रधानता होने पर भी विचित्र मार्ग में कुछ समस्त पदों का

---

(1) अक्लेशव्यञ्जितांकूत झटित्यर्थसमर्पणम्।
रसवक्रोक्ति विषयं यत् प्रसादः स कथ्यते।।
– कुन्तक वक्रोक्ति 1/31

(2) अत्रपदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वं अव्यवहितसबन्धत्वं समाससदभावेऽपि गमकसमासयुक्तता च परमार्थः
– कुन्तक–वक्रोक्ति जीवितम् वृत्ति पृ० 116

(3) अत्रार्थः शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः
सन्निवेशमहिनां लावण्याख्यो गुण कथ्यते।
–कुन्तक–वक्रोक्ति जीवितम् 118

(4) कुन्तक – वक्रोक्ति जीवितम् 118

(5) श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा
स्वभाव मसृणछायामाभिजात्यं प्रचक्षते।।
–कृन्तक–वक्रोक्ति जीवितम् 1/33

भी समन्वय हो जाता है। आचार्य वामन ने भी शब्दगत प्रसाद गुण में ओज गुण का मिश्रण माना है।

लावण्य :–

जहाँ अन्त में रहने वाले विसर्गों का लोपन हो, पद परस्पर संश्लिष्ट रहते हो तथा संयुक्त वर्णों के पूर्व में रहने वाले ह्रस्व वर्ण से लावण्य की वृद्धि होती है।[1] आचार्य कुन्तक ने विचित्र मार्ग के लावण्य में जिन पदों की संश्लिष्टता को आवश्यक माना है, वह प्राचीन आचार्यों के श्लेष गुण के समान ही है। आचार्य वामन ने भी शब्दश्लेष गुण की व्याख्या में इसी तथ्य को मान्यता दी है।

आभिजात्य :–

आभिजात्य गुण में कुन्तक ने कवि की प्रौढ़ प्रज्ञा द्वारा निर्मित ऐसे बन्ध को रखा हैं, जिनमें न अत्यन्त कोमल छाया हो और न ही अधिक कठोरता। बन्ध का सर्वकोमल होना शैथिल्य दोष तथा कठोर होना भी काव्य का दोष माना गया है। अतः दोनों दोषों से रहित मनोहारी रचना में आभिजात्य गुण माना गया है।

कुन्तक ने मध्यम मार्ग का मात्र उल्लेख किया है तथा उसके उदाहरण ही दिये हैं। उनका कहना है कि – मध्यम मार्ग में सुकुमार तथा विचित्र दोनों मार्गों के माधुर्य गुणों का मिश्रण ही रहता है।[2] सुकुमार मार्ग की स्वाभाविकता एवं विचित्र मार्ग की कलात्मकता दोनों ही विशेषताएं मध्यम मार्ग में दृष्टिगोचर होती है।

मम्मटाचार्य द्वारा किये गये गुणों के भेद

मम्मट के गुण भेद

मम्मट ध्वनिवादी आचार्य थे अतः उन्होंने गुणों के सन्दर्भ में भी आचार्य आनन्दवर्धन के विचारों को ही स्वीकार किया गया है। गुणों को रस का धर्म मानते हुए मम्मट ने काव्य में गुणों की अचल स्थिति को स्पष्ट किया है। आनन्दवर्धन के मत का समर्थन करते हुए भी मम्मट ने मौलिक सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होंने गुणों के स्वरूप का निर्धारण चित्तवृत्ति के आधार पर किया है।

माधुर्योर्जः प्रसादाख्यास्त्र्य।"[3]

आचार्य मम्मट ने माधुर्य ओज एवं प्रसाद नाम से तीन ही गुणों

---

(1) पं० बलदेव उपाध्याय – संस्कृत साहित्य का इतिहास

(2) अस्मिन्माधुर्य वैदग्ध्यर्स्यान्द वैचित्र्यसमपर्कं
पदानां वध्यते वाक्यैकदेशानां निवेश्यते।
यत् व्यक्तशैथिल्यमुज्झितकोमलभावं भवद् बन्धबन्धुरतांगतां
याति सन्निवेश सौन्दर्योपरणता
गच्छति – वक्रोक्ति जीवित्म कुन्तक 1/44 पृ० 145

(3) कुन्तक – वक्रोक्ति जीवितम् कुन्त 1/46

(4) असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽत्र दृश्यते।
कुन्तक–वक्रोक्ति जीवितम्। 1/48

को स्वीकार किया है।

माधुर्य :–

मम्मटाचार्य के अनुसार चित्त के द्रवीभूत का कारण तथा आह्लादस्वरूप से सम्भोगश्रृंगार में रहने वाला गुण माधुर्य गुण है। सामान्यतः तो माधुर्य गुण सम्भोग श्रृंगार में ही स्थित रहता हैं, किन्तु करूण रस, वियोग श्रृंगार तथा शान्त रस में माधुर्य गुण अपने अतिशय चमत्कार को प्राप्त करता है। अर्थात् अत्याधिक आह्लाद स्वरूप को धारण करता है। संयोग श्रृंगार की अपेक्षा करूण रस में माधुर्य गुण का उत्कर्ष हुआ करता हैं। करूण रस की अपेक्षा वियोग श्रृंगार में माधुर्य का प्रकर्ष देखा जाता हैं। तथा शान्त रस में वियोग श्रृंगार से भी प्रकृष्ट रूप में माधुर्य गुण पाया जाता है। मम्मट ने चित की द्रुति की मात्रा के आधार पर ही उपरोक्त रसों में माधुर्य के उत्कर्ष का निर्धारण किया है मम्मट इस सन्दर्भ में आन्नदवर्धन से सहमत नहीं है क्योंकि आनन्दवर्धन जहाँ विप्रलभ श्रृंगार की अपेक्षा करूण रस में चित्त की द्रुति अधिक मानते हैं, वहीं मम्मट करूण की अपेक्षा विप्रलम्भ में चित्त को अधिक द्रुतिशक्ति युक्त मानते है। साथ ही आनन्दवर्धन शान्त रस में माधुर्य की सत्ता नहीं मानते किन्तु मम्मट शान्त रस में ही चित्त का प्रकृष्ट द्रवीभाव स्वीकार करते हैं।

ओज गुण :–

ओज चित के दीप्ति रूप विस्तार का हेतु है। जिसकी स्थिति वीर रस में है।[1] जिस प्रकार संयोग श्रृंगार ही माधुर्य का मुख्य आधार है, ठीक उसी प्रकार वीररस में स्थित रहने वाला आत्मा

के फैलाव तथा विस्तृतता की कारण स्वरूप जो दीप्ति होती है, वह ओज कहलाती है तथा इ स चित्त के विस्तार रूप दीप्ति का जन्मदाता गुण ओज गुण कहलाता है।

यूं तो ओजगुण मुख्यता वीररस में स्थिति बनाये रखता है, किन्तु वीभत्स तथा रौद्र रस में इसका अतिशय आधिक्य हो जाता है।[2] ओजगुण के विषय निर्धारण में मम्मट का मौलिक सिद्धान्त है उनके पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन ने रौद्रदि रसों में ओज गुण की सत्ता मानी थी। इसमें "आदि" पद से अभिनवगुप्त ने अद्भुत तथा वीर रस को ग्रहण किया। किन्तु मम्मट ने अद्भुत रस की अपेक्षा वीभत्स रस में चित्त का अधिक विस्तार माना है। अद्भुत रस में ओज एवं माधुर्य रस का मिश्रण होने के कारण मम्मट ने अद्भुत रस में चित्त की एकान्तिक विस्तार को अस्वीकार नहीं किया। डॉ० वी० राघवन ने अभिनव के मत का समर्थन करते हुए अद्भुत रस में ही चित्त के अधिक विस्तार को स्वीकार किया। मम्मट के गुण विभाग का सम्यक् अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है। कि जिस गुण का जिन रसों में एकान्तिक रूप से निवास है। मम्मट ने उसी रस में उनकी स्थिति मानी है। तथा जिन रसों में कम या अधिक मात्रा में दो गुणों का संकर हो उन्हें मम्मट ने किसी गुण का निर्देश नहीं किया अतः मम्मट ने अद्भुत

(1) आत्रलुप्तविसैर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।
ह्स्वैः संयोगपूर्वेश्च लावण्यमतिरिच्यते।।
कुन्तक – वक्रोक्ति जीवितम् 1/47

(2) वक्रोक्ति जीवितम् कुन्तक 9/49/51

(3) आचार्य विश्वेश्वर – काव्यप्रकाश टीका पृ० 288 सू० 88

के स्थान पर वीभत्स रस को ओजगुण का स्थिति स्थान माना है।

प्रसाद गुण :–

काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने गुण के भेद करते हुए तीसरा तथा अन्तिम भेद प्रसाद गुण के रूप में किया है। उनके अनुसार जिस प्रकार से सूखी हुयी लकड़ियों में अग्नि सहसा तथा सुगमतापूर्वक प्रवेश करके व्याप्त हो जाती है, तथा धुले हुए वस्त्रों में जल आसानी से प्रवेश कर जाता है, ठीक उसी प्रकार से प्रसाद नामक गुण अति सुगमतापूर्वक हृदय में आह्लाद को उत्पन्न करता है।

प्रसाद गुण की स्थिति सभी रसों में समान होती है। रौद्र, वीभत्स इत्यादि रसों में प्रसाद गुण अग्नि की भांति आनन्दजन्य होता है, तो मृदुल श्रृंगार, शान्त इत्यादि रसों में शीतल जल की भाँति आह्लाद को उत्पन्न करता है। प्रसाद काव्य का सर्वरसव्यापी गुण है। माधुर्य गुण में चित्त की द्रुति के लिए प्रसाद गुण का रहना आवश्यक है। इसी प्रकार ओज गुण में भी प्रसाद की सत्ता अपरिहार्य है। मम्मट ने प्रसाद गुण में आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुण की धारणा को ही स्वीकार किया हैं तथा प्रसाद गुण के दृष्टान्त भी अभिनव की लोचन टीका से ग्रहीत किये हैं। प्रसाद गुण में "शुष्केन्धनाग्निवत्" उदाहरण में ओजगुण प्रधान रसों की अनुभूति में चित्त की ज्वलनशीलता एवं "स्वच्छजलवत् इत्यादि

(1) दीप्त्यात्म विस्तृतेर्हेतुरोजो वीररस्थिति मम्मट काव्य पृ० 8, 69

(2) वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेणच पृ० 192 मम्मट काव्यप्रकाश

दृष्टान्त में श्रृंगार करूण आदि रसों में हृदय के आर्द्र हो जाने का भाव व्यंजित होता है। प्रसाद वस्तुतः सभी रसों एवं समस्त रचनाओं में व्यंग्य रूप में स्थित रहता है।

तुलनात्मक अध्ययन :–

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने काव्यगुणों की तीन संख्या तीन ही मानी है। माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। जिनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है, किन्तु काव्यगुणों के भेदों का विवेचन करते हुए आचार्य मम्मट ने स्पष्ट रूप में वामनादि आचार्यों का विरोध किया, जिन्होंने कि काव्यगुणों की संख्या 10 मानी थी।

"माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।"[1]

आचार्य मम्मट वामन द्वारा अभिमत शब्द गुण तथा अर्थ गुण विभाजन को भी स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि गुण शब्दार्थ के धर्म न होकर रस के धर्म है। इसलिए गुणों के भेद शब्दार्थ के आधार पर दस न होकर मात्र तीन ही है। जिस प्रकार आत्म के धर्म शौर्य, त्याग इत्यादि उपचार से शरीर के ही धर्म कहे जाते हैं, उसी प्रकार यदि गौणी वृत्ति द्वारा गुणों को भी शब्दार्थ के धर्म मान ले तो वामन द्वारा कहे गये दस गुणों में से–

1) कुछ तो माधुर्य इत्यादि तीनों गुणों में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

2) कुछ दोषाभावरूप होते हैं तथा

3) कुछ गुण न रहकर कहीं पर दोषरूप हो जाते हैं।[2]

वामन द्वारा कथित ओज गुण को मम्मट ने भी उसी नाम से स्वीकार किया है, किन्तु वामन द्वारा कथित श्लेष, समाधि, उदारता, प्रसाद इन चारों गुणों को ओज के ही अन्तर्गत रखा है।

माधुर्य गुण मम्मट तथा वामन दोनों ही आचार्यों को अभिप्रेत है। अर्थव्यक्ति को मम्मट प्रसाद गुण के अन्तर्गत लेते हैं। समता नामक शब्दगुण को मम्मट दोषपूर्ण मानते हैं। उनका कहना कि यथा – मातंगा किमु वल्गितैः[1] इत्यादि श्लोक के तृतीय चरण में सिंह का कोमल मार्ग का परित्याग गुण हैं। किन्तु यदि यहाँ त्याग न होकर मार्गभेद रखा जाता तो यहाँ समता गुण दोष बन जाता है अतः मम्मट समता को गुण नहीं मानते।

सौकुमार्य तथा कान्ति नामक गुण में मम्मट की दृष्टि में केवल दोषों का अभाव रूप मात्र ही है। अतः मम्मट ने गुणों की संख्या तीन ही स्वीकार की है। उन्होंने वामन के दस अर्थ गुणों का भी इसी प्रकार खण्डन किया तथा कथन किया कि अर्थ गुणों में भी कुछ गुण माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि तीन गुणों में ही समाहित है अथवा मात्र विचित्रता को धारण किये हुए है। समाधि नामक अर्थगुण काव्य का कारण तो हो सकता परन्तु गुण नहीं। इस प्रकार जहाँ आचार्य वामन गुणों की संख्या 20 मानते है। 10 शब्दगुण तथा 10 अर्थगुण, वहीं मम्मट गुणों की संख्या मात्र तीन ही स्वीकार करते है। और वामन अभिमत गुणों के भेदों का भी इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव स्वीकार करते है।

(1) काव्यप्रकाशः आचार्य विश्वेश्वर पृ० 388 सू० 88

(2) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।।
—काव्यप्रकाश पृ० 390 सू० 95 कारिका 721

जयदेव प्रणीत चन्द्रालोक में गुणों के भेद

आचार्य जयदेव ने काव्यगुणों के आठ भेद किये है। चन्द्रालोक के चतुर्थ मयूख में इन गुणों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। जयदेव कल्पित ये गुण निम्नांकित है :–

श्लेष गुण :–

चन्द्रालोक के रचनाकार जयदेव ने श्लेष नामक गुण तत्व के दो भेद किये है।

1) शब्द श्लेष 2) अर्थ श्लेष

जहाँ असंभव अर्थ को युक्ति एवं कारण के द्वारा संभव कर दिया जावें, वहाँ अर्थश्लेष तथा जहाँ समानाकार अथवा सन्धि समास इत्यादि के द्वारा शब्दों के चमत्कारजनक रमणीय रचना की जावे, वहाँ शब्द श्लेष नामक गुण तत्व होता है। उदाहरणार्थ–

"उल्लसनतुनां नीतेऽनन्ते पुलककण्टकैः।
भीतया मानवत्यैव श्रियाश्लिष्ट हरि स्तुमः।।"[2]

प्रस्तुत उदाहरण शब्द तथा अर्थ श्लेष का उत्कृष्ट उद्धरण है। जिसमें पुलककण्टके, श्रिया श्लिष्टम् इत्यादि पदों में समानता सी प्रतीत होती है।

प्रसाद :–

जिस प्रकार स्वच्छ जल के अन्दर पड़ी हुयी कोई वस्तु बाहर से ही स्पष्ट दिखलाई दे जाती है, ठीक उसी प्रकार जहाँ काव्य के अन्तर्गत रहने वाला गूढ़ अर्थ अत्यन्त सरलता से ज्ञात हो जाए, वहाँ प्रसाद नामक गुणतत्व समझना चाहिए।

समता :–

अतिअल्प समासों का प्रयोग अथवा वर्ण इत्यादि समानता जिस पद्य में हो वहाँ समता नामक गुण होता है।

उदाहरणार्थ–

"श्यामला कोमला बाला रमणं शरणं गता।"

इत्यादि में "श्यामला कोमला वाला" तथा रमणं शरणं इत्यादि में पदों की समानता के कारण समता गुण है।

समाधि :–

जिस पद्य के अर्थ को श्रवण करने मात्र से ही श्रोता का हृदय प्रफुलित हो जाता हैं, तथा सहृदयों के हृदय में आनन्द के अंकुर उत्पन्न होने लगते है, वहीं चमत्कारी अर्थ समाधि गुण कहलाता है।

माधुर्य :–

जहाँ शब्दों की पुनरूक्ति होने पर भी पद बोझिल नहीं होते, वरन् उनसे भी रमणीयतापूर्ण विचित्रता झलकती है, वहाँ माधुर्य नामक गुण है। उदाहरणार्थ –

"वयस्य पश्य पश्यास्यांचञ्चलं लोचनाञ्चलम्।।"[1]

में पश्य तथा चल पदों की पुनरावृत्ति होने पर भी अर्थ अलौकिक प्रतीत हो रहा है।

ओजः–

जयदेव कवि के अनुसार अल्प शब्दों के प्रयोग से ही अधिकाधिक अर्थों का कथन करना तथा पदों में अर्थ् गाम्भीर्य का होना ओज नामक गुण है।

सुकुमार्य :-

अंमगलजनक अथवा अश्लील पदों के स्थान पर उन्हीं पर्यायवाची अन्य बोधक शब्दों को रख दिया जाए, वहाँ सुकुमारता नामक गुण होता है। जैसे –

"स कथाशेषतां यातः समालिंगय मरूत्सखम्।।"[2]

प्रस्तुत उदाहरण में मरना रूप अमांगलिक वर्णन को कथाशेष रूप पर्यायवादी शब्दों से वर्णित किया गया है। यही सौकुमार्य नामक गुण है।

उदारता :-

वैदग्धयुक्त या अत्यन्त चतुराई से कही जाने वाली बात ही उदारता से कही जाती है। उदारता ग्राम्यत्वभाव से पृथक है। ग्राम्यदोष का अभाव उदारता नहीं है बल्कि किसी बात को चतुराई पूर्वक प्रस्तुत करना ही उदारता है। जैसे –

"मान मुञ्च प्रिये किचित्लोचनान्तमुदञ्चर्य।" इत्यादि

जयदेव कवि के वामन इत्यादि आचार्यों की गुणों की संख्या दस नहीं मानी है। जयदेव के अनुसार गुण केवल आठ ही है। जिनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। जयदेव कवि की मान्यता हैं कि वामन सम्मत कान्तिगुण का श्रृंगार रस में तथा अभिव्यक्ति गुण का प्रसाद गुण में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार अलंकार शास्त्र के अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट गुणों का चन्द्रालोककर्ता जयदेव इन्हीं आठ गुणों में ही समावेश मानते हैं। इति–

(1) मम्मट – काव्यप्रकाश उदाहरण संख्या 299

(2) जयदेव प्रणीत चन्द्रालोक 4/2 टीका
डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

साहित्यदर्पणकार
विश्वनाथ द्वारा किये गये गुण भेद

आचार्य विश्वनाथ ने गुण भेद के सन्दर्भ में आचार्य भामह के मत का ही अनुकरण किया है उन्होंने गुणों की संख्या तीन ही प्रतिपादित किया है।

1) माधुर्य 2) ओज तथा 3) प्रसाद

माधुर्य :–

सर्वप्रथम आचार्य विश्वनाथ माधुर्य गुण का स्वरूप कहते है। आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पण ग्रन्थ में चित्त के द्रवीभाव को ही माधुर्य कहते है। उनके अनुसार जिस काव्य अथवा रचनाबन्ध का पठन करके सहृदय सामाजिक का हृदय एक अलौकिक आनन्द से पिघल उठता है, वहाँ माधुर्य नामक गुण होता है।[1]

माधुर्य गुण की अभिव्यक्ति क्रमशः संयोग श्रृंगार से विप्रलम्भ श्रृंगार में, विप्रलम्भ श्रृंगार से करूण रस में तथा करूण से शान्त रस में उद्‌भुत होती है।[2]

ओज :–

आचार्य विश्वनाथ के कथनानुसार ओज गुण दीप्तिरूप है, अर्थात सहृदय, सामाजिक के चित्त की वह प्रज्जवलितप्रायता है जिसका रूप चित्त का विस्तार है।[3]

ओज गुण अपनी उष्णता तथा दीप्ति के कारण क्रमशः वीर रस से वीभत्स में तथा वीभत्स रस से रौद्र रस में उत्तरोतर वृद्धि को प्राप्त करता है। ओज गुण दीर्घ समास युक्त पदों में, औद्धत्यपूर्ण

पदों में तथा वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा अन्तिम क्लिष्ट वर्णों में अभिव्यक्ति होता है।

प्रसाद :–

आचार्य विश्वनाथ अन्त में गुणों के अन्तिम भेद प्रसाद गुण का स्वरूप उद्घाटित करते हैं–

प्रसाद नामक गुण सहृदय सामाजिक के हृदय की ऐसी विमलता है, जो चित्त में इतनी तीव्रता से व्याप्त होती है, जिस प्रकार कि मन्दगति से अग्नि सूखे ईंधन में अत्याधिक तीव्रता से संचार कर लेती है।[1] इसी क्षिप्रता के कारण प्रसाद गुण समस्त रसों का धर्म होता हैं तथा सभी काव्य रचनाओं में प्रसाद गुण की अवस्थिति पायी जाती है।

प्रसाद गुण युक्त काव्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस काव्य में शब्दों के श्रवणमात्र से ही अर्थ झलकने लगता है।

शब्दगुणों का खण्डन :–

आचार्य विश्वनाथ अन्य दूसरे आंलकारिक आचार्यों की भांति माधुर्यादि गुणों को मात्र शब्दगुण नहीं मानते उनका मानना है कि प्रसादादि गुण उपचार से ही शब्दगुण कहे जा सकते हैं अन्यथा नहीं। क्योंकि जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म होते हैं, तथापि अपने आश्रय आश्रित भावरूप परस्पर सम्बद्ध होने के कारण शरीर के भी धर्म मान लिये जाते है। उसी प्रकार गुण भी वस्तुतः रस के ही धर्म होते हैं तथा उपचारतः शब्दार्थ के धर्म मान लिये जाते है।

(1) जयदेव – चन्द्रालोकः 4/6

(2) जयदेव – चन्द्रालोकः 4/6

आचार्य विश्वनाथ वामन सम्मत गुणों के भेदों का खण्डन करते हैं।[2] वामन द्वारा बतलाये गये शब्दगुणों श्लेष, समाधि, औदार्य तथा प्रसाद गुणों को विश्वनाथ पृथक् गुण नहीं मानते है, तथा इन गुणों का अन्तर्भाव ओज गुण में हीकर लेते है।[3]

"श्लेषः समाधि.........................ओजस्यन्तर्भवन्ति ते"।।

इसी प्रकार साहित्यदर्पणकार "पृथक्पदत्वमाधुर्य" को भी रसधर्मरूप माधुर्य में ही अन्तर्निहित मानते है, जिसकी अभिव्यक्ति असमस्त पदरचना द्वारा हुआ करती है।

वामन ने जिस "अर्थव्यक्ति" नामक गुण को "अनायास अर्थ बोधन" माना है। विश्वनाथ ने उसका समावेश प्रसाद गुण में ही कर लिया है।

कान्ति तथा सुकुमारता नामक गुण विश्वनाथ की दृष्टि में ग्राम्यत्व तथा दुश्रत्यत्व दोषों का परिहार रूप ही है।[4]

अन्तिम समता नामक शब्दगुण को आचार्य विश्वनाथ गुण न मानकर दोष ही मानते हैं। दूसरे अभिमत में विश्वनाथ पुनः कहते हैं कि – यदि समता को गुण मान भी ले तो उसका समावेश गुणत्रय में ही हो जाता है। समता नामक गुण को कहीं माधुर्य (ललितबन्ध) में तथा कहीं ओज (उद्वतबन्ध) में अन्तर्निहित मानना ही अधिक उचित जान पड़ता है।

(1) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण 8/2 पृ० 153
(2) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण 8/2 पृ० 153
(3) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण 8/4 पृ० 158

अर्थगुणों का खण्डन :–

आचार्य विश्वनाथ अर्थगुणों को दोषों के वर्जन के अलावा कोई अतिरिक्त गुणतत्व नहीं मानते है। उनका मानना है कि – ओज अर्थगुण अपुष्टार्थत्व का अभाव है। प्रसाद अधिकपदत्व का त्याग, माधुर्य अनवीकृतत्व का वजर्न, सौकुमार्य, अमंगलव्यंजक अश्लीलत्व का परित्याग तथा औदार्य ग्राम्यत्व का निराकरण है।[1]

इसी प्रकार अर्थव्यक्ति नामक गुण भी स्वतन्त्र पृथक् गुण न होकर स्वाभावोक्ति अलंकार का ही एक स्वरूप विशेष है।[2]

कान्ति नामक अर्थगुण तो असन्दिग्ध रूप से आत्मरूप रस के मुख्य व्यंग्य अभिव्यक्ति अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य में ही समाविष्ट है क्योंकि रस की स्पष्ट प्रतीति का नाम ही कान्ति है।

समता को आचार्य विश्वनाथ केवल दोषाभावरूप ही मानते है।

श्लेष को विश्वनाथ गुण न मानकर केवल "बन्ध वैचित्र्यमात्र" मानते हैं क्योंकि गुण तो वस्तुतः रस के उत्कर्ष में आधायक होते है। जबकि उक्तिवैचित्र्य से रसोत्कर्ष का कोई सम्बन्ध नहीं है। उक्तिवैचित्र्य रस का उत्कर्ष करने के बजाय अपकर्ष ही करते है क्योंकि सहृदय सामाजिक का चित्त वर्ण्य विषय की उत्पत्ति तथा उक्ति में ही इतना व्यग्र रहता है कि उसे रस की प्रतीति अत्यन्त क्लिष्टता से ही हो पाती है।

समाधि को भी साहित्यदर्पणकार गुण स्वीकार नहीं करते है।

(1) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण 8/7 पृ० 160
(2) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण 8/9 पृ० 163
(3) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण 8/9/10 कारिका
(4) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण कारिका 9–13 तक

"न गुणत्वं समाधेश्च।"[3]

समाधि नामक तत्व का एक अर्थ होता है – अयोनि अर्थात् पूर्व अवर्णित काव्यार्थ को अपनी बुद्धि वैभव से परिकल्पित करना तथा दूसरा का अर्थ है – अन्यच्छायायोनि अर्थात कवि परम्परा से प्रसिद्ध काव्यार्थ को ही अपनी कल्पना से पुनः कल्पित करना। इन दोनों ही अर्थों में समाधि गुण से रस का कोई भी उपकार नहीं होता, केवल अर्थात्मक काव्यशरीर का ही निष्पादन होता है। इसी कारण आचार्य विश्वनाथ समाधि को काव्यगुणों की श्रृंखला से च्युत कर देते हैं।

उपरोक्त संक्षिप्त प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वामनादि प्राचीन आचार्यों द्वारा समस्त अर्थगुण कोई अन्य अतिरिक्त काव्यतत्व नहीं है, अपितु माधुर्य–ओज तथा प्रसाद नामक गुणत्रय में ही समस्त शब्दगुणों तथा अर्थगुणों का समावेश हो जाता है।

निष्कर्ष :–

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में शब्दार्थगत श्लेष इत्यादि जिन दस गुणों के स्वरूप की उद्भावना भरतमुनि से लेकर आचार्य वामन तक हुयी, वह इतनी विस्तृत व्यापक एवं सटीक थी कि उत्तरवर्ती आचार्य उनसे अधिक गुणों की कल्पना कर ही नहीं सके। उत्तरकाल में इस क्षेत्र में जितनी भी नवीन कल्पनाएँ हुयी, प्रायः वह असफल ही रही। जो भी नये नाम दृष्टिगोचर हुए वह या तो प्राचीन गुणों के ही नये नाम थे या कुछ वस्तुतः गुण थे ही नहीं। अन्य आचार्यों ने उन गुणों का खण्डन कर दिया। वह गुण, अलंकार, ध्वनि आदि के ही रूप थे, जिन्हे हम गुणों के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।

भोजराज ने सबसे अधिक 24 गुण माने है तथा प्रत्येक 24 गुणों का वाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशषिक भेद किये है। इस प्रकार भोजराज के अनुसार गुणों के भेद 72 होते है। भोजराज ने परम्परा प्राप्त वामन, भरत दण्डी द्वारा गिनाये गये 10 भेदों को उसी रूप में मानते हुए अन्य 14 भेदों को भी मान्यता दी है। ये 14 गुण है –

1) उदाहरण 2) ओजत्व 3) प्रेयस्
4) सुशब्दता 5) सौक्षम्य 6) गाम्भीर्य
7) विस्तार 8) संक्षेप 9) सम्मितत्व
10) भाविक 11) गति 12) रीति
13) उक्ति 14) प्रौढ़ि

तथा इसी तरह अग्निपुराण में शब्दगुण, अर्थगुण तथा उभयगुण के भेद से 18 गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसमें छः शब्दगुण है। छः अर्थगुण तथा छः ही प्रकार के उभयगुण कहे गये है।

शब्दगुण :– 1) श्लेष 2) लालित्य 3) गाम्भीर्य 4) सुकुमारता 5) औदार्य तथा 6) ओजस्।

अर्थगुण :– 1) माधुर्य 2) संविधान 3) कामलता 4) उदारता 5) प्रौढ़ि 6) सामयिकता।

उभय गुणः– 1) प्रसाद 2) सौभाग्य 3) यथासंख्य

(1) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण कारिका 8/14
(2) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण कारिका 8/15
(3) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण 8/16

4) प्राशस्त्य 5) पाक 6) राग।[1]

इस प्रकार प्रकार कुन्तक ने दो सामान्य तथा चार विशिष्ट कुल छः गुण माने है। उनके अनुसार औचित्य तथा सौभाग्य से ये दो सामान्य गुण है।[2] तथा

1) माधुर्य 2) प्रसाद 3) लावण्य

4) अभिजात्य ये विशिष्ट गुण हैं।[3]

इस प्रकार उपर्यक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न कालों में काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्यगुणों के विभिन्न भेद किये, जिनमें कुछ तो नामतः तथा परिभाषिक रूप से समान ही थे, तथा कुछ आचार्यों की अपनी कल्पना से प्रसूत हुए, जिन पर उत्तरवर्ती आचार्यों ने नवीन उद्भावनायें प्रस्तुत की।

(1) अग्निपुराण – 346/5/24/1
(2) वक्रोक्तिजीवितम् – 1/53–54
(3) वक्रोक्तिजीवितम् – 1/30/33

चतुर्थ अध्याय

साहित्यशास्त्र के अन्य सम्प्रदाय और उनकी दृष्टि में गुण

साहित्यशास्त्र

काव्य में विद्यमान कौन सा तत्व काव्य का आत्मरूप माना जाना चाहिए? काव्य का ऐसा कौन सा तत्व है जिसके अभाव में काव्यत्व की हानि होती है? और किस तत्व के बिना कोई काव्य काव्यपद से च्युत हो जाता है?

उपर्युक्त सम्भावित प्रश्नों को हल करने के उद्देश्य तथा स्वजिज्ञासा को शान्त करने के अभिप्राय से काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अनेकानेक प्रयास किये है। अलंकारशास्त्र के विद्वान समालोचकों ने अपनी महान प्रज्ञा से काव्य की आत्मा के रूप में कतिपय तत्वों को उद्धत किया। जिसके फलस्वरूप काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायों को उदभव हुआ।

साहित्यशास्त्र के सम्प्रदाय :–

ऐतिहासिक क्रम से इन सम्प्रदायों की संख्या छः मानी जाती है।

(1) रस सम्प्रदाय।

(2) अलंकार सम्प्रदाय।

(3) रीति सम्प्रदाय।

(4) ध्वनि सम्प्रदाय।

(5) वक्रोक्ति सम्प्रदाय।

(6) औचित्य सम्प्रदाय।

काव्यसमालोचना के प्रारम्भ से काव्यशास्त्र के क्षेत्र में जितने भी आचार्य हुए है उन्होंने उपयुक्त छः तत्वों में से ही किसी एक

का समर्थन किया और काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया है। काव्य के आत्मतत्व की खोज में काव्यशास्त्र में अनेकानेक समीक्षायें की गयी है। विभिन्न समयों में नये–नये सम्प्रदायों का उद्भव किसी आधार पर किया गया इसका विश्लेषण "अलंकारसर्वस्व" के टीकाकार समुद्रबन्ध ने अपनी कृति में इस प्रकार किया है।

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्". तयोश्च वैशिष्ट्यधर्ममुखेन व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेनचेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेत्ति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण, भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पंचसु।। पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरंगीकृतिः, द्वितीय वामनेन, तृतीयो वक्रोक्ति जीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमो आनन्दवर्धनेन।"[1]

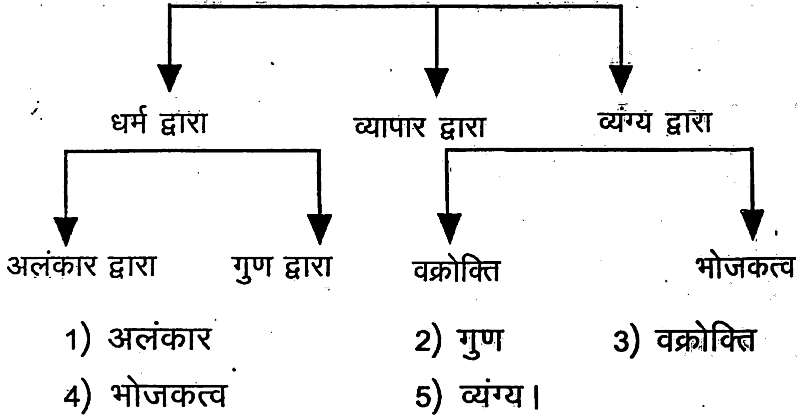
अर्थात् विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य है। शब्द तथा अर्थ की यह विशिष्टता मुख्यतः तीन प्रकार की होती है।

1) धर्म के द्वारा
2) व्यापार के द्वारा
3) व्यंग्य के द्वारा

इस शब्दार्थ की त्रिविध विशिष्टता के पुनः अन्य भेद किये गये है। जिसे इस सारणी द्वारा समझा जा सकता है।

इस प्रकार समुद्रबन्ध के मतानुसार काव्य के पांच पक्ष दृष्टिगोचर होते है।

(1) अलंकारसर्वस्व टीका – समुद्रबन्ध कृत पृ० 3/11



1) अलंकार 2) गुण 3) वक्रोक्ति
4) भोजकत्व 5) व्यंग्य।

परन्तु समुद्रबन्ध ने काव्य के आत्मतत्व रूप से मान्यता प्राप्त प्रमुख पक्षों में क्षेमेन्द्र के औचित्य पक्ष का कहीं भी संकेत नहीं दिया है।

उपर्यक्त विवेचन से पता चलता है कि काव्य सम्प्रदायों को उत्पत्ति एवं स्थिति का निरूपण काफी प्राचीन काल से किया जाता रहा है और किसी एक तत्व की प्रमुखता को अंगीकार करने की परम्परा भी प्रागैतिहासिक है। काव्यशास्त्र की समीक्षा के फलस्वरूप आविर्भूत विभिन्न सम्प्रदायों में छः सम्प्रदाय प्रसिद्ध है। इन सभी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की समीक्षात्मक प्रस्तुति के साथ गुण के संदर्भ में उन–उन आचार्यों के दृष्टिकोण को भी विस्तार से प्रस्तुत अध्याय में उपन्यस्त किया जा रहा है।

(1) रूपनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वरः।
–राजशेखर कृत काव्यमीमांसा प्रथम अध्याय पृ० सं०1

रस सम्प्रदाय

काव्यशास्त्र के इतिहास में रस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक भरतमुनि माने जाते है। जबकि काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने इस मान्यता के विरोध में लिखा है कि – भरत ने तो केवल रूपकों का ही निरूपण किया है। रस का प्रथम विवेचन तो नन्दिकेश्वर ने किया है।1 किन्तु आज रस सम्बन्धी नन्दिकेश्वर का कोई भी प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। केवल भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। जिसमें काव्यरस का विवेचन किया गया है। अतः विद्वानों द्वारा भरतमुनि को ही रससम्प्रदाय का प्रथम आचार्य माना गया है।

आचार्य भरत द्वारा निरूपित सिद्धान्तों की ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने विस्तृत समीक्षाएं प्रस्तुत की तथा अपने रस सम्बन्धी सिद्धान्तों का पोषण किया है।

रस शब्द का अर्थ :–

"रस" शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही संस्कृत वाङ्मय में होता रहा है। कोष ग्रन्थो के अनुसार रस शब्द के विभिन्न अर्थ हो सकते है।

"रसः स्वादे जले वीर्ये श्रृंगारादौ विषेद्रवे।
बोले रागे गृहधातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च।।"[1]

अर्थात् रस शब्द के स्वाद, जल, वीर्य, श्रृंगारादिकाव्यरस, विष, द्रव, पारद, राग, गृह, धातु तिक्तादि भोजन इत्यादि अर्थ हो

(1) हैमकोष

सकते हैं। रस शब्द से हमारा अभिप्राय: श्रृंगारादि रसों से है। उपनिषदों में परमात्मा के लिये भी रस पद का व्यवहार हुआ है। शंकराचार्य का कहना है कि जिस प्रकार मधु आदि लौकिक रसों के पान करने से मनुष्य आनन्दित होते है, उसी प्रकार परमात्मारूपी रस को पाकर योगी जन परमआनन्द को प्राप्त करते है। भरत ने रूपकों की रचना में रस को अथर्ववेद से ग्रहण किया था।

व्याकरण के अनुसार रस पद की व्युत्पत्ति चार प्रकार से की जा सकती है।

1) रस्यते आस्वाद्यते इति रस :– जिन पदार्थों का आस्वादन किया जाता है।

2) रस्यते अनेन इति रस :– जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है।

3) रसति रस्यति वा रस :– जो व्याप्त हो जाता है उसे रस कहते है।

4) रसनं रसः आस्वाद :– जो आस्वाद है जैसे श्रृंगार रस आदि

आदिकवि वाल्मिकी के रामायण काव्य में भी श्रृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, अद्भुत, भयानक और शान्त सभी रसों का समावेश हुआ है। अतः प्राचीनकाल से ही काव्य में रसों का प्रयोग अपरिहार्य रूप से होता रहा है।

रस की प्रमुख परिभाषा तथा विवेचन :–

रस का स्वरूप क्या है? तथा रस की अनुभूति सहृदय सामाजिक को किस प्रकार होती है? इस महत्वपूर्ण प्रश्न का सर्वप्रथम विवेचन नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने अपने आलोचनात्मक

ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रससूत्र के रूप में किया है। उत्तरवर्ती काल में साहित्यशास्त्र के जिन आचार्यों ने रस के सम्बन्ध में विचार किया है। तथा रस सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की है, उनका मूल आधार भरत का रससूत्र ही रहा है। भरत ने नाट्यशास्त्र में रस का स्वरूप इस प्रकार कहा है।

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।।"[1]

यद्यपि भरतमुनि की उपर्युक्त परिभाषा अत्यन्त सरल प्रतीत होती है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। तथापि उत्तरवर्ती आचार्यों ने "संयोगात्" एवं "निष्पत्ति" पदों की अनेक व्याखायें देकर इसे पेचीदा बना दिया है।

भरतमुनि द्वारा प्रस्तुत रससूत्र की मम्मट, पण्डितराज जगन्नाथ, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने विशद व्याखायें प्रस्तुत की है। रस के स्वरूप को निर्धारित करने में अभिनवगुप्त, भट्टलोल्लट भट्टनायक तथा शंकुक के द्वारा प्रस्तुत रससूत्र की समीक्षाओं का अत्याधिक महत्व है।

आचार्य विश्वनाथ, मम्मट एवं अन्य रसवादी आचार्यों ने काव्य रस को काव्य के आत्मतत्व के रूप में प्रतिपादित किया है।

रस का आत्मत्व तथा गुण :–

प्राचीन भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों में जल, वायु, अग्नि, आकाश तथा पृथ्वी इन पंचमहाभूतो से निर्मित शरीर में आत्मा को प्रमुख स्थान दिया है। उपनिषदों में इसी आत्मा को रस रूप कहा गया हैं। इस रसरूप आत्मा को प्राप्त करके मनुष्य आनन्दित हो उठता है।

"रसो वै सः। रसं ह्वेवायं लब्ध्वानन्दी भवति।।"[2]

रसवादी आचार्य इसी आह्लादक रस को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते है। अग्निपुराण में भी कहा गया है कि –

"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।।"[3]

रसवादी आचार्यों की मान्यता है कि शब्दार्थ रूप शरीर में एकमात्र रस ही ऐसा तत्व है, जिसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। अन्य गुण, अलंकार आदि तत्व इसी रस के अलंकृत करते है। अभिनवगुप्त ने भी अपनी "लोचनटीका" तथा नाट्यशास्त्र की "अभिनव भारती टीका" में रस का विस्तृत विवेचन किया तथा काव्य रस को प्रमुखता से स्वीकार किया। अभिनवगुप्त ने एकमात्र श्रृंगार रस को ही काव्य की कमनीयता का आधार माना। उनका कहना है कि यदि कवि का ह्रदय श्रृंगारी है, तो काव्य भी रसमय होगा किन्तु यदि कवि ही श्रृंगारी नहीं है, तो काव्य स्वतः ही नीरसता को प्राप्त हो जायेगा।[4] काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने रस से युक्त अर्थ को ही काव्य माना है। मम्मट के अनुसार काव्य में रस अंगी (मुख्य) है तथा काव्यगुण अंगी रस के नियम धर्म है।[1] गुणों का काव्य में होना अतिआवश्यक है। मम्मट

(1) नाट्यशास्त्र 6/18/21
(2) तैत्तिरीय उपनिषद 3/71
(3) अग्निपुराण 319/13
(4) श्रृंगारी चेत्कविः काव्यजातं रसमयं जगत्।
स एवं चेदश्रृगारी नीरसं सर्वमेव तत्।।
– सरस्वतीकणभरण 5/1

काव्य में रस का महत्व देते हुए उसे काव्य का आत्मतत्व तो प्रतिपादित करते है, किन्तु साथ ही काव्यगुणों के अपरिहार्य महत्व को भी निःसंकोच स्वीकार करते है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने तो काव्य लक्षण ही "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"[2] किया है। रसात्मक काव्य को ही काव्य का दर्जा प्रदान करने वाले आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में काव्यगुणों का विस्तृत विवेचन किया है, तथा उन्हें काव्य के लिए आवश्यक तत्व स्वीकार किया है।

अलंकार सम्प्रदाय

सम्प्रदायों की श्रृंखला में अलंकार सम्प्रदाय द्वितीय स्थान पर है। आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में अलंकारों को ही काव्य का मुख्य तत्व प्रतिपादित किया है। आचार्य भामह रस तत्व को केवल नाट्य का विषय मानते है क्योंकि आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अनेक स्थानों पर नाट्य के लिए भी काव्य शब्द प्रयुक्त किया है।

भामह के पश्चात् उनके उत्तरवर्ती आचार्य दण्डी, रूद्रट, उदभट् आदि ने भी अपने समालोचक ग्रन्थों में अलंकारों को प्रमुखता दी। आचार्य भामह के पश्चात् अलंकारवादियों की एक लम्बी परम्परा रही। भामह के उत्तरवर्ती आचार्य तब तक अलंकारों को ही काव्य की आत्मा मानते रहे, जब तक कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की तथा ध्वनि नामक तत्व का आत्मतत्व सिद्ध किया। भामह का तर्क था कि जस प्रकार अति सुन्दर होते हुए भी सुन्दरी का मुख बिना आभूषणों के शोभायमान

नहीं होता, ठीक उसी प्रकार अलंकार रहित काव्य सरस होते भी शोभा को धारण नहीं करता।[3]

दण्डी ने काव्य के शोभाकरान् तत्वों या धर्मों को काव्य कहा है।[4] काव्य में अलंकारें का होना आवश्यक माना है, किन्तु मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण देते हुए कथन किया है कि – "अनलंकृति पुनः क्वापि।" मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश के नवम् तथा दशम् उल्लास में अलंकारों का विस्तृत विवेचन तो किया है लेकिन उनकी मान्यता है कि काव्य में अलंकार न भी हो तो काव्यत्व की हानि नहीं है। आचार्य भामह ने ही सर्वप्रथम अलंकारों को काव्य की आत्मा माना तथा भरत मुनि द्वारा निर्देशित रस इत्यादि तत्वों को अलंकारों के अन्तर्गत ही परिगणित किया है। भामह के अनुसार अलंकार अंगी है, तथा रस, गुण इत्यादि इसके अंगरूप है।

आचार्य दण्डी ने रस, गुण आदि काव्यगुणों का अन्तर्भाव रसवद् अलंकारों के ही अन्तर्गत कर लिया है। आचार्य वामन अलंकारों का अभिप्राय काव्यात्मक सौन्दर्य से लेते है। वामन का मत है कि यद्यपि काव्य की सुन्दरता तो गुणों से ही होती है।1 किन्तु उस काव्यात्मक सौन्दर्य में वृद्धि अलंकार ही करते है।2

श्रृंगारप्रकाशकार भोजराज ने शोभा के अभाव में अलंकारों के

(1) ये रसस्यांगिनों धर्मा। – काव्यप्रकाश 8/66
(2) साहित्यदर्पण 1/3
(3) न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।
– भामह काव्यालंकार 2/13
(4) काव्याशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श 2/1

अस्तित्व को नहीं माना है जितने भी शोभाकरत्व धर्म है। भोजराज ने उन सभी को अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित कर लिया है। इस आधार पर अलंकारों के उन्होंने तीन भेद किये।

1) उपमा आदि अलंकारों की प्रमुखता होने पर वक्रोक्ति अलंकार होता है।

2) माधुर्य आदि गुणों की प्रधानता होने पर स्वाभावोक्ति अलंकार होता है। तथा

3) रस तत्व की प्रधानता होने पर रसोक्ति अलंकार कहा जाता है।

किन्तु आनन्दवर्धनाचार्य "ध्वन्यालोक" में अलंकारवादियों का कटु विरोध करते है, तथा उद्धत करते है कि –

"विवक्षातत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।"[3]

मम्मटाचार्य तो अलंकारों को गुणों के समान भी महत्व नहीं देते। उनका कहना है कि काव्य में अलंकारों की तुलना में गुणों का होना अधिक आवश्यक है क्योंकि गुणों की काव्य में अचल स्थिति है। अलंकार रस के उपकारक हो भी सकते हैं तथा नहीं भी हो सकते हैं।[4]

मम्मट के अतिरिक्त उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इस तथ्य को सिद्ध करते हुए अपनी काव्य परिभाषा दी है।

अलंकार सिद्धान्त के मतानुसार काव्य के संघटक पदार्थ शब्द एवं अर्थ है। इन पदार्थों का अग्राम्यतापूर्ण, अतिशयोक्तिपूर्ण, वक्रोक्तिपूर्ण, औचित्यपूर्ण तथा दोषरहित निर्वहन ही काव्य है। अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि में रस का मूल्य नहीं है क्योंकि भामह काव्यांलकार में "कपित्थ" फल का उदाहरण देते है।

कपित्थ फल रसयुक्त होते हुए भी सुन्दर नहीं होता है, उसी प्रकार काव्य रसों से युक्त होते हुए भी अलंकारों के अभाव में काव्य आकर्षक नहीं हो सकता है।[5]

दण्डी सभी शोभाकारक धर्मों को अलंकार मानते है।[6] दण्डी का अभिप्राय यहाँ केवल उपमा अनुप्रास इत्यादि अलंकारों से नहीं है, वरन् दण्डी, भरत द्वारा निर्देशित सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्ति के अंग, लक्षण तथा काव्यशास्त्रों में कहे गये काव्य के समस्त अंगों रस, ध्वनि, गुण, रीति आदि को काव्य के शोभाकारक धर्म होने के कारण अलंकारों में ही परिगणित कर लेते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य भामह ने अलंकारों को अतिशय महत्व देंते हुए अलंकारों को काव्य का आत्मतत्व सिद्ध किया किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक ग्रन्थ की रचना कर काव्यजगत में ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की। जिस मत को मम्मट, विश्वनाथ, भट्टलोल्लट आदि विद्वान समालोचकों ने पुष्ट किया। आनन्दवर्धन अलंकार के विषय में कहते हैं –

(1) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। काव्यालंकार सूत्राणि 311/1
(2) तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। काव्यालंकारसूत्राणि 311/2
(3) ध्वन्यालोक 2/19
(4) ये रसस्यांगिनौ धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितियो गुणाः।। काव्यप्रकाश 8/66
(5) काव्यालंकार 1/131
(6) काव्यादर्श 2/367

"रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।।[1]

भट्टलोलट तो यमक यदि अलंकार को रसविरोधी मानते है तथा अलंकारों के प्रयोग को कवि का अभमान या भेड़चालमात्र कहते हैं।[2]

उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य गुणों की अपेक्षा अलंकारों को काव्य में गौण माना। तथापि उत्तरपवर्ती सभी आचार्यों ने अपने–अपने ग्रन्थों में अलंकारों की विशद तथा विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है।

ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सिद्धान्त का प्रचलन आनन्दवर्धन से बहुत पहले ही हो चुका था। इसका संकेत स्वयं आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भिक श्लोक में दिया है।

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति वुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।"[3]

अर्थात् ध्वनिकाव्य की आत्मा है ऐसा पहले से ही विद्वानों द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है। तथापि विभिन्न मत भेदों के उपस्थित होने के कारण आनन्दवर्धन जिज्ञासु सहृदय सामाजिक की मनः प्रीति के लिए ध्वनि सिद्धान्त का पुनः स्पष्टीकरण करते है।

ध्वनि सिद्धान्त को व्यवस्थित तथा काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य आनन्दवर्धन ने ही किया। उन्होंने ध्वन्यालोक ग्रन्थ में पहले ध्वनि का संक्षिप्त परिचय दिया तथा उपरान्त वृत्ति एवं उदाहरणों द्वारा ध्वनि की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि तत्व की उद्भावना स्वयं नहीं की थी केवल ध्वनि तत्व की व्याख्या ही प्रस्तुत की।[4] आनन्दवर्धन द्वारा की गयी ध्वनि तत्व की व्याख्या इतनी अधिक स्पष्ट तथा युक्ति संगत थी, कि उन्हें ही ध्वन्याचार्य तथा ध्वनिकार का प्रशंसनीय पद प्राप्त हुआ है। "ध्वनि" पद का आधार
"स्फोटवाद" है।

मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में भी कथित "बुधैःकथितः" शब्द की व्याख्या में "बुधैः" पद का तात्पर्य वैयाकरणों से लिया है। वैयाकरण प्रधान स्फोट रूप व्यंग्य को प्रकट करने वाले शब्दों को ध्वनि कहते है।[1]

आन्नदवर्धन ने ध्वनि पद की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की है।
1) ध्वनतिः इति ध्वनि :– प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करने वाले वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ ध्वनि है।
2) ध्वन्यते इति ध्वनि :– द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंग्य अर्थ ही ध्वनि है।
3) ध्वननं ध्वनि :– तीसरी व्युत्पत्ति में व्यंजना व्यापार को ध्वनि

(1) ध्वन्यालोक 2/16
(2) आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में उद्धत
(3) ध्वन्यालोक 1/1
(4) सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसप्तकल्पं मनस्सु
परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्
सहृदयोदयलाभहेतोरानन्नदवर्धन इति प्रथिताभिधानः।।
— ध्वन्यालोक 4/17 वृत्ति

माना गया है।

ध्वनि काव्य का अर्थ :–

आनन्दवर्धन ध्वनि का अर्थ करते हुए लिखते है कि जहाँ वाच्य अर्थ अपने को तथा वाचक शब्द अपने तथा अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं। उस काव्य को विद्वान ध्वनि कहते हैं।[2] यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा काव्य में प्रतीयमान अर्थ अतिशयित होता है, वहाँ ध्वनि कहा जाता है। ठीक इसी के विपरीत जहाँ वाच्यार्थ अतिशयित रहता है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य कहा गया है।[3] किन्तु जहाँ रसादि का प्रयोग तात्पर्य की दृष्टि से किया गया हो, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य भी ध्वनि रूप होने से ध्वनि ही कहलाता है।[4]

आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा किये गये ध्वनि के लक्षण को उत्तरवर्ती आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने अपने ग्रन्थों में समुचित आदर प्रदान किया तथा काव्य में प्रतीयमान अर्थ की अतिशयता को ही ध्वनिकाव्य के रूप में मान्यता प्रदान की है।[56]

ध्वनिकाव्य के भेदः–

जिस ध्वनि तत्व को आनन्दवर्धन काव्य का आत्मतत्व घोषित करते है। व्यावहारिक दृष्टि से विद्वान समालोचकों ने उस ध्वनिकाव्य के अनेकानेक भेद किये है। प्रारम्भ में ध्वनिकाव्य को दो भागों में विभक्त किया है।

1) अविवक्षितवाच्य   2) विवक्षितान्यपरवाच्य

अविवक्षितवाच्य के पुनः दो भेद है :–

1) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य 2) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

इसी प्रकार विविक्षितान्यपरवाच्य के भी दो भेद है :–

1) संलक्ष्यक्रमध्वनिवाच्य 2) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यवाच्य

समंलक्ष्यक्रमध्वनि के तीन भेद हो जाते है :–

1) शब्दशक्ति उद्‌भव 2) अर्थशक्तिउद्‌भव

3) उभयशक्तिउद्‌भव

शब्दशक्ति उद्‌भव पुनः अलंकार रूप तथा वस्तुरूप से दो भागों में विभक्त हो जाता है। अर्थशक्ति के 12 भेद है तथा उभयशक्तिउद्‌भव का एकमात्र भेद स्वयं है।

असंलक्ष्यक्रमध्वनि के वाच्य एवं व्यंग्य दो भेद है, जिन्हें एक ही माना जाता है। इस प्रकार ध्वनिकाव्य के समालोचकों ने 18 भेद

(1) बुधैवैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। –काव्याप्रकाश 1/4 की वृत्ति

(2) यत्रार्थः शब्दों वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थों।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।
–ध्वन्यालोक 1/13

(3) प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वे स्यात् प्रकर्षवत्।।
–ध्वन्यालोक 3/35

(4) प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादि तात्पर्य पर्यालोचनया पुनः।।
–ध्वन्यालोक 3/37

(5) इदमुत्तमतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधैः कथितः।
–काव्याप्रकाश 1/4

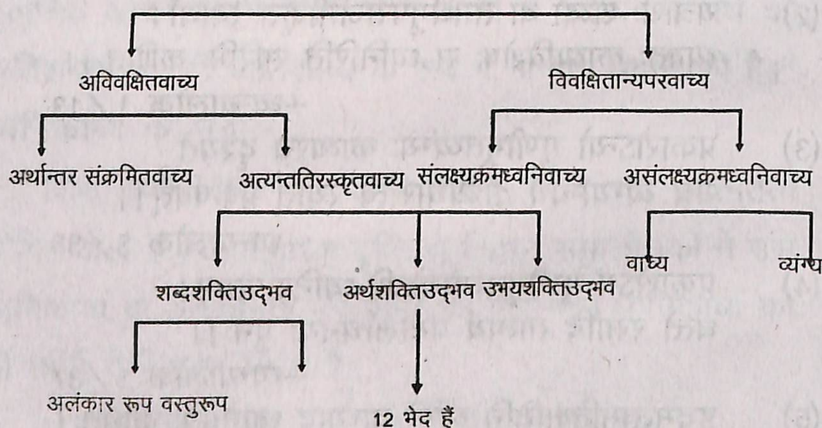
(6) वाच्यादतिशयिनि व्यंग्य ध्वनिस्काव्यमुत्तमम्।
–साहित्यदर्पण 4/1

स्वीकार किये है।

ध्वनि का गुण से सम्बन्ध तथा काव्य आत्मत्व :–

काव्यशास्त्र के सभी आचार्यो ने रस के साथ माधुर्यादि काव्यगुणों का नित्य नियत सम्बन्ध स्वीकार किया हैं। ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन ने भी बताया है कि पद संघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर रस की अभिव्यक्ति करती है।1

गुणों के आश्रित होने के कारण ही रीति, अलंकार, औचित्य आदि सम्प्रदायों की अपेक्षा ध्वनि के अधिक समीप रही है। गुण रस क अन्तरंगभूत तत्व है, तथा ध्वनि प्रतीयमान रसरूप अर्थ। आनन्दवर्धनाचार्य का मानना है कि ध्वनि का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है जबकि गुण सीमित। इसलिए ध्वन्यालोककार काव्य गुणों को भी ध्वनि के ही अन्तर्गत समाहित करते हैं।



(1) गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसादीन्।

– ध्वन्यालोक 3/3 कारिका

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन विस्तारपूर्वक करके अपने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की। ध्वन्यालोकाकार के उपरान्त हुए ध्वनि के विरोधियों की मम्मट तथा अभिनवगुप्त जैसे रसवादी आचार्यों ने कटु आलोचना की। उनके सिद्धान्तों का खण्डन करके पुनः ध्वनि को ही एकमात्र काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

ध्वनिवादियों के मतानुसार ध्वनि के मुख्यतः तीन भेद है।

1) रसध्वनि 2) वस्तुध्वनि 3) अलंकार ध्वनि

इस प्रकार ध्वन्यालोककार ने त्रिविध ध्वनि को ही काव्य का आत्मत्व माना तथा काव्य के अन्य अंगों गुण, रस, रीति, अलंकार इत्यादि को ध्वनि के अन्दर ही समाविष्ट माना। यद्यपि आनन्दवर्धन तथा मम्मट आदि समालोचक रसध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ मानते है तथापि अलंकार तथा वस्तु ध्वनि में भी काव्यगत सौन्दर्य होने से काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया गया है, तथापि त्रिविध ध्वनि को ही काव्य की आत्मा के विशिष्ट स्थान पर रखना ही युक्ति संगत तथा उचित प्रतीत होता है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय के उपरांत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का उदय हुआ। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित माना। "वक्रोक्तिजीवितम्" नामक ग्रन्थ में आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति की सामान्य परिभाषा करते हुए कहा है कि –

"विचित्रैवाभिधाः वक्रोक्तिरित्युच्यते।।"[1]

वक्रोक्ति ही काव्य का आत्मतत्व है। वक्रोक्ति से रहित काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकता है। "वक्रोक्ति" इस शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही संस्कृत काव्य साहित्य में होता रहा है। वक्र + उक्ति का सामान्य अर्थ है – किसी शब्द के अर्थ को सामान्य से भिन्न (विशेष) तरीके से कथन करना। प्राचीन आचार्यों तथा कवियों ने अपने काव्य में वक्रोक्ति पद को इसी सामान्य अर्थ में ही प्रयुक्त किया था। सर्वप्रथम काव्यशास्त्रीय दृष्टि से वक्रोति शब्द का प्रयोग आचार्य भामह ने किया था। काव्यालंकार के रचियता आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को काव्य के अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया है। भामह का विचार है कि–

"वक्रोक्ति से रहित वाक्य में काव्यत्व नहीं होता है वरन् वक्रोक्ति रहित वाक्य वार्तामात्र है।"[2] किन्तु भामह वक्रोक्ति की सही तथा सटीक परिभाषा नहीं कर पाये। भामह ने वक्रोक्ति की जो परिभाषा की है वह अतिश्योक्ति की पर्याय ही लगती है।[1]

आचार्य दण्डी भी वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल मानते है। उनकी मान्यता है कि– "वक्रोक्तिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्तें।"[2]

(1) वक्रोक्ति जीवितम् वृत्ति 1/10

(2) गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः

इत्येवमादि किं काव्य वार्तामेनां प्रचक्षते।।

– भामह – काव्यांलकार 2/87

आचार्य भामह की भांति ही दण्डी भी वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्याय मानते है। दण्डी के पश्चात् उत्तरवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति का क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर दिया तथा वक्रोक्ति को एक अलंकार विशेष माना जाने लगा। रीति के प्रर्वत्तक आचार्य वामन ने भी वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार ही माना है। उन्होंने वक्रोक्ति का लक्षण देते हुए लिखा है –

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः"[3] अर्थात् सादृश्य के आधार पर होने वाली लक्षणा ही वक्रोक्ति है। वामन द्वारा दिया गया वक्रोक्ति का लक्षण प्राचीन विद्वान समालोचकों के मत से सर्वथा भिन्न है तथा यदि वक्रोक्ति के उपर्युक्त लक्षणं को ध्यान से पढ़ा जाये तो वह दण्डी द्वारा बताये गये "समाधि" नामक काव्य गुण में अन्तर्भूत होता है।

वामन के पश्चात रूद्रट[4] तथा अग्निपुराण[5] में भी वक्रोक्ति को पुनः व्यापक रूप प्रदान किया। ध्वन्यालोककार ने वक्रोक्ति की गणना शब्दालंकारों में करते हैं।

अलंकारवादी आचार्यों के उपरांत ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को पुनः व्यापक रूप प्रदान किया। ध्वन्यालोककार ने वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति को एक ही माना है।

मम्मट का दृष्टिकोण भी आनन्दवर्धन के समान ही था किन्तु विशेष नामक अलंकार की वृत्ति में उन्होंने वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण प्रतिपादित किया है।[6]

कुन्तक तथा भोजराज समकालीन थे, परन्तु वक्रोक्ति के सम्बन्ध में दोनों के दृष्टिकोण भिन्न थे। भोजराज ने वक्रोक्ति

का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु कुन्तक ने वक्रोक्ति पर अत्यन्त गहनता से सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किया तथा वक्रोक्ति की विशद समीक्षा करके उसे काव्य का प्राण प्रतिपादित किया। इस सम्बन्ध में कुन्तक का "वक्रोक्तिजीवितम्" नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। जिसमें कुन्तक ने वक्रोक्ति की अत्यन्त सूक्ष्मता से विवेचना प्रस्तुत की है। अतः वक्रोक्ति के क्षेत्र में कुन्तक को ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कुन्तक अकेले आचार्य है जिन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित माना है। कुन्तक के पश्चात्वर्ती सभी आचार्यों ने वक्रोक्ति की गणना शब्दालंकारों या अर्थालंकारों के अन्तर्गत की है।

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति :–

"वक्रोक्ति जीवितम्" नामक ग्रन्थ में कुन्तक ने वक्रोक्ति के स्वरूप पर व्यापक विचार किया तथा उसकी सटीक व्याख्या भी प्रस्तुत की है। कुन्तक के अनुसार वैदग्ध्य भंगी भणिति" ही वक्रोक्ति है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याख्या निम्नशब्दों में की है।

(1) लोकातिकान्तगोचरं वचनम्।
(2) काव्यादर्श 2/8 श्लोक हृदयगंमा टीका
(3) वामन काव्यालंकार सूत्राणि 4/3/8
(4) रूद्रट काव्यालंकार 2/14 से 16 तक
(5) व्यास अग्निपुराण 342/32/33
(6) सर्वभ एवं विधाविषयेऽतिशयोक्तिष्ठते।
काव्यप्रकाश 10/136 वृत्ति

"वक्रोक्ति – प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशो वैदग्ध्यभंगीभणिति? वैदग्ध्यं विदग्धभावः। कविकर्मकौशलं तस्य भंगीविच्छिति, तया भणितिः। विचित्रैराविधा वक्रोक्तिरित्युच्चते।"

कुन्तक की मान्यता है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र प्रकार का कथन ही वक्रोक्ति कहलाता है। वक्रोक्ति' वैदग्ध्यभंगीभणिति' है, अतः वैंदग्ध्यभंगीभणिति' पद की व्याख्या करते हुए लिखते है कि वैदग्ध का अर्थ है – विदग्धभाव। प्रसिद्ध कवि की काव्यरचना रूपी कार्य कौशल उसकी विच्छिति अर्थात् अलौकिकता तथा उसके द्वारा कथन करना वक्रोक्ति हैं, इस प्रकार विचित्र उक्ति ही वक्रोक्ति है।

कुन्तक ने विचित्र उक्ति की तीन प्रकार से व्याख्या की है।

1) "शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्ध व्यतिरेकि।।"[2]

2) द्वितीय व्याख्या के अनुसार

"प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी।"[3]

वक्रोक्ति के तृतीय भेद की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि –

"अतिक्रान्त प्रसिद्धव्यवहारसरणि।"[4]

इस प्रकार लोकोत्तर चमत्कारी शैली ही वक्रोक्ति है। इस वक्रोक्ति से युक्त रचना ही काव्य की श्रेणी में परिगणित होती है। कुन्तक द्वारा किये गये वक्रोक्ति के लक्षण को उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया तथा अपन ग्रन्थों में इसका समर्थन किया है।[56]

वक्रोक्ति में दो विशेषताएं अनिवार्य रूप से रहनी चाहिए। इन विशेषताओं से युक्त वक्रोक्ति ही काव्य का प्राणभूत तत्व माना गया है।

1) प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न चमत्कारी शब्दार्थों का प्रयोग।

2) सहृदयों को आह्लादित करने वाले शब्दार्थों का प्रयोग।

वक्रोक्ति तथा गुण :–

"वक्रोक्तिजीवित" नामक ग्रन्थ में कुन्तक ने काव्यगुणों पर भी सूक्ष्म विचार किया है। रीतिवादी आचार्य वामन ने रीतियों को आधार गुणों को बताया था। वामन के अनुसार गुणों की संख्या बीस (20) है। तथा काव्य गुणों के आधार पर ही विभिन्न रीतियों का सम्पादन होता है, तथा रीतियों की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। कुन्तक ने रीति को मार्ग पद से सम्बोधित किया है। मार्ग के साथ गुणों के सम्बन्ध तथा काव्य गुणों के आधार पर ही विभिन्न रीतियों का सम्पादन होता है, तथा रीतियों की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। कुन्तक ने रीति को मार्ग पद से सम्बोधित किया है। मार्ग के साथ गुणों के सम्बन्ध तथा काव्य गुणों की विशद विवेचना प्रस्तुत की है।

कुन्तक के अनुसार काव्य गुण दो प्रकार के होते है।

1) सामान्य 2) विशेष

कुन्तक सामान्य गुणों को पुनः दो भागों में विभाजित करते है।

(1) वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभरणितिरूच्यते। वक्रोक्तिजीवित् 1/1
(2) वक्रोक्तिजीवितम् – 1/7 वृत्ति
(3) वक्रोक्तिजीवितम् – 1/18 वृत्ति
(4) वक्रोक्तिजीवितम् – पृ० 195
(5) व्यक्तिविवेक – 1/66
(6) काव्यप्रकाश – 1/2 वृत्ति

1) औचित्य 2) सौभाग्य

विशेष गुणों के चार विभाग किये गये हैं।

1) माधुर्य 2) प्रसाद

3) लावण्य 4) आभिजात्य

सामान्य गुण सभी मार्गों में रहते है जबकि विशेष गुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मार्ग में भिन्न–भिन्न होता है।

वामन स्वाभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते हैं। उनके अनुसार स्वाभावोक्ति का अन्तर्भाव तो अर्थव्यक्ति नामक गुण में ही हो जाता है।[1] इस प्रकार कुन्तक ने काव्यगुणों को रीति के आध ारतत्व के रूप में प्रतिपादित किया है।

वक्रोक्ति नामक तत्व का सांगोपांग विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् भी कुन्तक का यह सिद्धान्त विद्वान समालोचकों के मध्य य आदर को प्राप्त न कर सका तथा कुन्तक के साथ ही समाप्त हो गया। तथापि कुन्तक ने अपनी प्रखर मेधा से जिस प्रकार काव्य के समस्त तत्वों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत समाहित किया तथा वक्रोक्ति को ही काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। वह प्रयास वास्तव में स्तुत्य तथा विचारणीय है।

औचित्य सम्प्रदाय

उचित का भाव औचित्य कहलाता है।[2] जैसे कोई व्यक्ति औचित्यपूर्ण व्यवहार से प्रतिष्ठा प्राप्त करता है तथा वहीं व्यक्ति अनौचित्य व्यवहार द्वारा हास्यास्पद बन जाता है ठीक, उसी प्रकार काव्य में रस, अलंकार, रीति इत्यादि तत्व उसी अवस्था में

शोभा आधायक होते हैं, जब उनका प्रयोग औचित्य से किया जावे, अन्यथा कवि तथा उसका काव्य औचित्य के अभाव में हास्य के ही पात्र बनते है।

काव्य में औचित्य की इसी आवश्यकता को अनुभव करके ही क्षेमेन्द्र ने "औचित्यविचारचर्चा" नामक ग्रन्थ की रचना की। क्षेमेन्द्र की मान्यता थी कि – काव्य में सौन्दर्य कहाँ से आता है? अर्थात् काव्य में निहित तत्व रस, गुण, अलंकार इत्यादि का प्रयोग हुआ है अथवा नहीं? ये आलोचना का विषय नहीं है बल्कि इन रसादि तत्वों का प्रयोग उचित ढंग से किया गया है अथवा नहीं यहीं क्षेमेन्द्र का नूतन मौलिक तथ्य है। क्षेमेन्द्र औचित्य को ही काव्यका प्राण मानते हैं।

इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का कहना है कि – अलंकार तो अलंकार ही है तथा गुण–गुण ही है, परन्तु रससिद्ध काव्य का अविनाशी जीवित तो औचित्य ही है।[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के समस्त अंगों को औचित्य के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया है। उनकी मान्यता है कि औचित्य काव्य के प्रत्येक अंग में होना चाहिए। जहाँ औचित्य का अभाव होता है, वहीं रसभंग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा काव्य अरूचिकर हो जाता है। अतः सौन्दर्य तथा आह्लादकत्व की भावना इसी औचित्य नामक तत्व पर आधारित हैं औचित्य

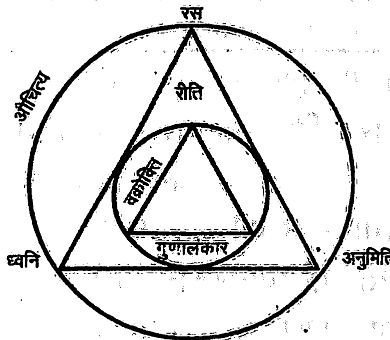
(1) वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः – वामन
– काव्यालंकारसूत्राणि 3/2/14
(2) औचित्यविचार चर्चा – 1/1

की इसी भावना को आचार्य क्षेमेन्द्र ने निम्न कारिका में अभिव्यक्त किया है।

"कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नुपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।।
शौर्यणप्रणते रिपौ करूणया नायान्ति के हास्यता।
मौचित्येन बिना रूचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः।।"[2]

आचार्य क्षेमेन्द्र के कहने का तात्पर्य यही है कि रस में रसत्व, गुण में गुणत्व तथा रीति में रीतित्व तभी सौन्दर्य को उत्पन्न कर सकते है, जब उनका विनियोजन औचित्यपूर्ण ढंग से किया गया हो। अन्यथा रसादि तत्व काव्य में विरसता को ही उत्पन्न करेंगे।

क्षेमेन्द्र के पश्चात् किसी भी समालोचक आचार्य ने इस सम्बन्ध मे विमत प्रकट नहीं किया है कि – औचित्य काव्य के समस्त अंगों में व्याप्त रहता है। औचित्य की व्यापकता का निदर्शन कराने के लिए महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी शास्त्री ने स्वग्रन्थ 'हाईवेज एंड बाइवेज ऑफ सिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत" पृष्ठ 27/3 में एक ग्राफ उद्धृत किया है।[3]



औचित्य का लक्षण :–

औचित्यविचारचर्चाकार क्षेमेन्द्र औचित्य का लक्षण देते हुए लिखते हैं – "जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसको आचार्य उचित कहते है, उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है।"[1]

इस प्रकार काव्यगत औचित्स की विशेषतायें हो सकती है –

1) औचित्य काव्य में आस्वाद्यता लाता है।

2) औचित्य काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति करता है।

3) औचित्य काव्य का प्राण है।

औचित्य के भेद :–

औचित्य केवल काव्य में ही नहीं वरन् लोक में भी स्थानों में व्याप्त है। इसी कारण औचित्यविचारचर्चा में क्षेमेन्द्र का कथन है कि औचित्य के असंख्य भेद हो सकते हैं। जिनकी गणना असंभव है तथापि उन्होंने औचित्य के 27 भेदों की संकल्पना करके उनका सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया है। इन भेदों के नामोल्लेख निम्न है –

"पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे।।

---

(1) अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।
– औचित्यविचारचर्चा – 5

(2) औचित्यविचारचर्चा – 6 की व्याख्या से

(3) औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाचनृजुवाङ्मया।।

उपसर्ग निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रह।।
प्रतिभायामस्वस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।"[2]

उपर्युक्त भेदों का विवेचन करने के पश्चात आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना है कि औचित्य के जो अन्य भेद हो सकते है इनकी कल्पना स्वयं करनी चाहिए।[3]

औचित्य का काव्य आत्मत्व एवं गुण :–

क्षेमेन्द्र आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य थे, जिन्होंने ध्वन्यालोक पर लोचन टीका लिखी है। अतः आचार्य क्षेमेन्द्र पर ध्वन्यालोक का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस "औचित्य" नामक तत्व को काव्य तथा रस की दृष्टि से अनिवार्य माना, उसी को क्षेमेन्द्र ने काव्य के प्राणरूप में प्रतिपादित किया है तथा इस काव्यगत औचित्य का विचार करने के लिए उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की।[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का प्राणरूप स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि जिस काव्य में औचित्य नहीं है, उसमें गुणों तथा अलंकारों का प्रयोग निरर्थक है।2

(1) उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उतितस्य चयो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। – 7

(2) औचित्यविचाार चर्चा – 8/9/10

(3) अन्येषु काव्यांगेष्त्रनयैव दिया स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्।
– औचित्यविचार चर्चा 39

"अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।"[3]

काव्यगुणों का पूरा समूह औचित्य के अभाव में विषतुल्य हो जाता है। रौद्र इत्यादि कठोर रसों में माधुर्य गुण का प्रयोग तथा श्रृंगार रस में ओज गुण का सन्नियोजन काव्य में अपकर्ष का ही आधान करते है इस प्रकार क्षेमेन्द्र के अनुसार गुण तभी गुण है, जबकि उनका विनियोजन औचित्यपूर्ण हो अथवा गुण हेतु होते है। अतः क्षेमेन्द्र के अनुसार गुणों में गुणत्व तभी रहता है, जब वे औचित्य से च्युत न हो।[4] क्षेमेन्द्र ने भी काव्य का तथा रस का अंतरंग तत्व स्वीकार किया है।

किन्तु काव्य का अनिवार्य तत्व होने मात्र से ही औचित्य काव्य का जीवित सिद्ध नहीं होता है। बल्कि इस स्थिति में यह परीक्षण करना आवश्यक है कि औचित्य साध्य है अथवा साधन। यदि औचित्य साध्य है तो वह निःसंकोच काव्य की आत्मा है, किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः औचित्य काव्य के आत्मतत्व के उत्कर्ष का साधन मात्र है। औचित्य रस आदि के उत्कर्ष का कारण अवश्य है किन्तु औचित्य ही कवि का उद्देश्य नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रस, गुण तथा अलंकार आदि तत्वों की योजना औचित्य के लिए नहीं की जाती, वरन् औचित्य ही गुण इत्यादि के उत्कर्ष का साधनमात्र है। अतः काव्य में औचित्य का अस्तित्व साधन रूप में है, कि साध्य रूप में औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए क्षेमेन्द्र का कथन है कि–

"रसेन श्रृंगारादिना सिद्धस्य काव्यास्यात्मा।
धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितम् स्थिरमित्यर्थः।।[5]

इस प्रकार स्वयं क्षेमेन्द्र के कथन से ही सिद्ध है कि काव्य का जीवित औचित्य नहीं है, बल्कि औचित्य रस, गुणादि तत्वों के जीवन को स्थिर करने वाला तत्व है, अतः रस, गुण आदि की तुलना में औचित्य को काव्य की आत्मा स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है।

रीति सम्प्रदाय

रीति का उद्भव एवं विकास :–

साहित्य में रीति शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से होता रहा है। रीति का अर्थ है – मार्ग। ऋग्वेद में भी रीति पद का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।

"महावरीतिः शवसा सरत् पृथक"[1]

वामन से पूर्व भामह तथा दण्डी ने रीति के लिए 'मार्ग' पद

(1) औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना।।
– औचित्यविचार चर्चा 3 (युग्मकम्)

(2) काव्यास्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्य विचिन्त्यापि न दृश्यते।।
– औचित्यविचार चर्चा – 4

(3) औचित्यविचारचर्चा – 5

(4) औचित्यच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः।
औचित्यविचारचर्चा – 6

(5) औचित्यविचारचर्चा – 5 की वृत्ति।।

का व्यवहार किया है। राजशेखर का कथन है कि सवर्णनाभ नामक आचार्य ने ही सर्वप्रथम रीति विषयक ग्रन्थ की रचना की थी तो आज उपलब्ध नहीं है।[2]

प्रारम्भ में रीति का सम्बन्ध भौगोलिक स्थिति से था। जैसे – विदर्भ देश की वैदर्भी, गौड़ देश में रहने वाले कवियों की गौड़ी रीति, किन्तु भामह के समय से ही इन रीतियों का किसी विशेष प्रदेश से सम्बन्ध न रहकर लेखक की निजी प्रवृत्ति से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। वामन ने भी इसी प्रवृत्ति का समर्थन किया।[3]

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने रीति का विवेचन किया। दण्डी ने भी रीति के लिए मार्ग पद का ही व्यवहार किया है। दण्डी के अनुसार रीति के भेद अनन्त हो सकते हैं।[4] आचार्य रूद्रट का रीति के इतिहास में विशेष स्थान है। रूद्रट ही प्रथम समालोचक हुए जिन्होंने रीति को भौगोलिक स्थिति से भिन्न स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया तथा रीति का काव्य रसों के साथ भी संयोजन किया। रूद्रट रीति के चार भेद मानते थे। जिनमें से "लाटी" नामक रीति रूद्रट की अविष्कार है।

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने रीतियों का सम्बन्ध वृत्ति, प्रवृत्ति समास तथा रसों से स्थापित किया है। राजशेखर काव्य में रीति को रस के अविचल तत्व के रूप मे मान्यता देते हैं।[5] अधिकांश काव्य शास्त्रीय विद्वान समालोचकों ने रीति का आधार समास को माना है तथापि ऐसे विद्वान भी बहुतायत से है जिन्होंने रीति का आधार कवि के आन्तरिक गुणों तथा माधुर्यादि

काव्य गुणों को माना है। जैसे – भोजराज, कुन्तक तथा स्वयं वामन का नाम उल्लेखनीय है। शारदातनय रीति का आधार "वचनविन्यासक्रम" को मानते हैं।[6]

ध्वनिवादी आचार्यों ने भी रीतियों पर व्यापक दृष्टि से विचार किया है। मम्मट आदि विद्वानों ने रीति को काव्य का वाह्य तत्व स्वीकार किया हैं उनके अनुसार पदों की संघटना माधुर्य आदि गुणों का आधार लेकर काव्य रसों को अभिव्यक्त करती है।[1]

मम्मट रीतियों का अन्तर्भाव वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत ही कर लेते हैं।

रसगंगाधर में पण्डितराजजगन्नाथ वृत्तियों तथा रीतियों को एक ही मानते है तथा उन्होंने केवल वैदर्भी रीति का विवेचन ही अपने ग्रन्थ में किया है।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रीतियों का विशेष विवेचन किया है। उनके अनुसार

"पदसंघटना रीतिरससंस्थाविशेषवत्।

(1) ऋग्वेद 2/27/14
(2) रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः।। – काव्यमीमांसा पृ० 1
(3) विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।। 1/2/10
(4) अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
– दण्डी – काव्यादर्श 1/40
(5) सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति
अस्ति तन्न बिना येन परिस्रवति वाङ्मधु।।
– काव्य मीमांसा अध्याय 5 पृ० 44
(6) भाव प्रकाशन – पृ० 11

उपकर्त्री रसादीनां स पुनः स्याच्चतुर्विधा।।
वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका तथा।"[2]

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने रीति को रसों का अभिव्यंजक तत्व माना है। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने आचार्य विश्वनाथ्ज्ञ की इस मान्यता का कड़े शब्दों में विरोध किया है। उनका कहना है कि वर्ण रचना विशेष रीति काव्यगुणों की अभिव्यंजक तो हो सकती है किन्तु काव्यात्मा रस की व्यंजक नहीं हो सकती है।[3] आचार्य वामन से पूर्व तथा उनके अनंन्तर अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों में रीति पर व्यापक विचार हुआ है, किन्तु अमृतानन्द योगी तथा आचार्य वामन के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना है।

रीति का लक्षण :–

आचार्य वामन से पूर्ववर्ती आचार्य अलंकारों को ही काव्य की आत्मा मानते थे। किन्तु वामन ने अनुभव किया कि काव्य में अलंकारादि से व्यतिरिक्त कोई ऐसा अति सूक्ष्म तत्व है जिसके अभाव में काव्य की कल्पना निराधार है। आचार्य वामन ने उस अतिसूक्ष्म तत्व को "रीति" नाम से संबोधित किया।[4]

---

(1) गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान्।
   – ध्वन्यालोक 3/6
(2) साहित्यदर्पण – 9/1 पृ० 197–98
(3) रसगंगाधर – प्रथम आनन
(4) रीतिरात्मा काव्यस्य – काव्यालंकारसूत्राणि 1/2/6 पृ० 14
(5) वामन – काव्यलंकारसूत्राणि

वामन जिस रीति को काव्य का प्राण मानते है, उस प्राणरूप रीति का लक्षण कहते है –

"विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।।"[5]

माधुर्यादि गुण जिसकी आत्मा है वही विशेष है तथा यही विशेष प्रकार की पदसंघटना रीति कहलाती है। काव्य की आत्मा तो रीति है किन्तु रीति का अस्तित्व स्वयं काव्य गुणों का ऋणी है।

वामन द्वारा बताये गये रीति के लक्षणानुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतियों का सम्पादन काव्यगुणों द्वारा ही सम्पन्न होता है।

रीति के भेदः–

आचार्य वामन से काफी समय पूर्व से ही काव्य में रीति के सम्बन्ध में विचार विमर्श आरम्भ हो चुका था। भामह तथा दण्डी ने रीति को वैदर्भी तथा गौड़ दो रूपों में विभाजित किया है।[1]

वामन ने रीति के तीन भेद किये है।

1) गौड़ी रीति 2) वैदर्भी रीति 3) पांचाली रीति

किन्तु तदन्तर आचार्य रूद्रट ने लाटी नामक रीति को मान्यता देकर रीति के चार भेद कर दिये है। अधिकांश समालोचकों ने रीति की संख्या तीन अथवा चार ही मानी है। कतिपय विद्वान रीति के चार से अधिक विभाजन करते है जैसे – नरेन्द्रप्रभ सूरि

(1) काव्यादर्श 1/101
(2) काव्यादर्श 2/1/1
(3) वामन काव्यांलकार सूत्र 3/1/1/211 पृ० 87–88
(4) काव्यालंकार सूत्र 3/1/2 की वृत्ति पृ० 88

रीति के 12 भेदों का कथन करते है, तो शारदातनय छः भेदों का प्रतिपादन करते है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 105 रीतियों की भी चर्चा की है।

रीति का काव्य आत्मत्व तथा काव्य गुणों के साथ सम्बन्ध :–

रीतिवादी आचार्यों ने अलंकारवादी आचार्यों की अपेक्षा काव्य के मूल स्वरूप का अधिक सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता से विश्लेषण किया है। रीतिवादी आचार्यों की मान्यता थी कि कोई कवि अपने स्वभावानुसार विषय की अनुकूलता से जिस मार्ग द्वारा पदों की योजना करता है, वहीं रीति कहलाता है।

आचार्य वामन वैदर्भी गौड़ी तथा पांचाजी इन तीन रीतियों को काव्य की आत्मा मानते हैं। ध्वनि युग के आरम्भ में यद्यपि ध्वनि तत्व को ही काव्य का जीवित माना गया तथा रीति को गौण स्थान पर रखा गया तथापि कव्यालंकारसूत्र के टीकाकर तिप्पभूपाल एवं अलंकारसंग्रह के रचनाकार अमृतानन्द योगी ने रीति को आत्मतत्व के प्रतिष्ठित पद पर आसीन करने का भरपूर प्रयास किया है।

आचार्य दण्डी गुणों को अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित करते हैं।[2] किन्तु वामन ने गुण तथा अलंकारों में स्पष्ट अन्तर को स्वीकार किया है उनके कथनानुसार –

''काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तद्‌तिशयहेतवस्त्वलंकारा।।''[3]

आचार्य वामन अलंकारों की अपेक्षा काव्य गुणों को अधिक

महत्वपूर्ण मानते है। वामन का मत है कि आभूषणों से युक्त तथा यौवन से हीन स्त्री की भांति उपमा आदि अलंकारों से अलंकृत तथा माधुर्यादि गुणों से रहित काव्य सहृदय सामाजिक को आकर्षित नहीं कर सकता।[4] अतएव "पूर्वे गुणा नित्याः"[1] गुण नित्य है। गुणों के बिना काव्य में सौन्दर्य नहीं रह सकता हैं ध्वनिवादी आचार्य भी गुणों को काव्य का अन्तरंग तथा नित्य तत्व प्रतिपादित करते हैं।

आचार्य वामन काव्य में रस के महत्व को स्वीकार तो करते है किन्तु उसे काव्य के आत्मतत्व के रूप में मान्यता नहीं देते। वामन रीति का आधार काव्य गुणों को मानते है तथा श्रृंगारदि रसों का अन्तर्भाव कान्ति नामक गुण के अन्तर्गत कर लेते हैं।[2] श्रृंगारादि रस जहाँ प्रदीप्त होते हैं, वहाँ कान्ति नामक अर्थगुण होता है। इस प्रकार वामन रसों को गुणों के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लेते हैं।

आचार्य वामन ने पश्चात्वर्ती किसी भी आचार्य ने रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना है। वामन ने रीति का जो स्वतन्त्र स्वरूप निर्धारित किया था, पश्चात्वर्ती आचार्यें ने उसे रस, विषय, वाच्य के औचित्य से परतन्त्र कर दिया। आनन्दवर्धनादि

(1) काव्यालंकार सूत्र 3/1/3 की वृत्ति पृ० 89
(2) दीप्तरसत्वं कान्तिः – काव्यालंकार सूत्र
– 3/2/15 की वृत्ति पृ० 123
(3) वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणव्यंजकत्वमेव न रसादिव्यंजकत्वम्।
रसगंगाधर प्रथम आनन।

आचार्यों ने रीति को काव्य का बहिरंग तत्व प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि रीति काव्य के आत्मरूप ध्वनि के अन्तर्गत ही समाविष्ट है और इस प्रकार उन्होंने रीति के महत्त्व को अधिक कम कर दिया। उन्होंने अपने काव्यप्रकाश में रीति का प्रबल खण्डन किया तथा रीति का समावेश वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत ही कर लिया। उन्होंने वामन द्वारा प्रतिपादित 20 काव्य गुणों का भी खण्डन करके गुणों की संख्या मात्र तीन मानी है, किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने रीति को काव्य का बहिरंग तत्व मानते हुए भी रीति को महत्व प्रदान किया है। उन्होंने साहित्यदर्पण का नवां परिच्छेद रीति के विवेचन में ही संकलित किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ रीति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि – वर्ण रचना रूप रीति काव्य गुणों की अभिव्यंजक तो हो सकती है, किन्तु रस की अभिव्यंजक नहीं हो सकती है।3

वामन ने रीति का प्रतिपादित काव्य गुणों के आधार पर किया है। निसंदेह माधुर्यादि गुण रसों में नियत रूप से स्थिर रहते हैं, तथा रस का उपकार करते रहते है। बिना गुणों के काव्य में काव्यत्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। ऐसी परिस्थिति में काव्य के अन्तरंग तत्व काव्य गुणों के आधार पर स्थित रीति भले ही समालोचकों के द्वारा काव्य की आत्मा न मानी जाएं तथापि काव्य में रीतियों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। काव्य में रीतियों का महत्व असंदिग्ध है।

पंचम अध्याय

काव्यात्मा के रूप में गुण

काव्यात्मा का अभिप्राय

गुण नामक काव्य तत्त्व किस रूप में काव्य की आत्मा कहा जा सकता है? इस तथ्य को जानने से पूर्व यह ज्ञान करना अति आवश्यक है कि वस्तुतः काव्य का आत्मतत्त्व क्या है? अर्थात् काव्य में ऐसा कौन सा तत्त्व निहित है, जिसके अभाव मात्र से ही काव्य का काव्यत्म नष्ट हो जाता है. अथवा काव्य रूपी शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रह सकता। वास्तव में काव्य का समस्त आकर्षण या सौन्दर्य जिस प्रमुख तत्त्व के अभाव मात्र से समाप्त हो जाता है, वही काव्य का आत्मत्व कहलाने योग्य है।

चूंकि काव्य के आत्मतत्त्व को द्वारा ही साहित्यिक आनन्द की अनुभूति होती है इसलिए उस काव्य के आत्मतत्व की खोज तथा अनुभूति अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्राचीनकाल से ही विभिन्न साहित्य शास्त्रीय काव्य के आत्मतत्व का अन्वेषण करते रहे हैं। जिस प्रकार प्राचीन दार्शनिकों ने मानव शरीर के आत्मतत्व की खोज करते हुए किसी ने बुद्धि को, किसी ने शरीर को, किसी ने प्राणों को तथा किसी ने इन्द्रियों आदि को आत्मतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया, ठीक उसी प्रकार काव्य की आत्मा का अन्वेषण करते हुए भी किन्हीं आचार्यों ने रस को, किसी ने अलंकार की, किसी ने रीति को, किसी ने गुण को, किसी ने औचित्य को तथा किसी ने वक्रोक्ति आदि को काव्य का आत्मतत्व अंगीकार किया। विभिन्न आचार्यों द्वार काव्य की

आत्मा निर्धारित करने के कारण ही काव्यशास्त्र में विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ।

सम्प्रदायों के आविर्भाव के इस क्रम में भरतमुनि एवं उनके उत्तरवर्ती युग में काव्य के सर्वातिशायी तत्व का अन्वेषण काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा सतत् किया जाता रहा है। अनेक काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा काव्य के विभिन्न तत्वों को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित करने की इस परम्परा में विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। इन सम्प्रदायों के सन्दर्भ में संस्कृत काव्य शास्त्र में जो विश्लेषण उपलब्ध होता है, उसके अध्ययन एवं विश्लेषण से स्पष्ट पता चलता है कि किसी काव्य तत्व विशेष को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित करने के कारण ही काव्यशास्त्र में विभिन्न सम्प्रदायों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से प्रचलित सम्प्रदायों की संख्या छः है। इन षड् सम्प्रदायों का अधोलिखित नामों से ख्याति प्राप्त है।

1) रस सम्प्रदाय।
2) अलंकार सम्प्रदाय।
3) ध्वनि सम्प्रदाय।
4) रीति सम्प्रदाय।
5) वक्रोक्ति सम्प्रदाय।
6) औचित्य सम्प्रदाय।

पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा काव्यात्मत्व के विषय में विवेचित इन छः सम्प्रदायों से सम्बन्धित मनीषियों ने अपने–अपने सिद्धान्तानुसार काव्य की आत्मा का विश्लेषण किया।

विभिन्न काव्य सम्प्रदायों के काव्यात्मा विषयक सिद्धान्तों की समीक्षा :–

आचार्य भरत से लेकर पण्डित राजजगन्नाथ तथा आचार्य विश्वेश्वर पण्डित पर्यन्त काव्य शास्त्र के इतिहास में जितने भी विद्वान आचार्य हुए, उन्होंने अपने ग्रन्थों में इन्ही छः सम्प्रदायों (रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य) में से किसी एक पक्ष का पोषण तथा समर्थन किया तथा उसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया।

प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं विभिन्न काव्य–सम्प्रदायों के द्वारा विवेचित काव्य में आत्मत्व के स्वरूप की समीक्षा करेंगे।

इसी सन्दर्भ में सर्वप्रथम किन–किन आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा माना है तथा क्यों? तथा तत्पश्चात् रस के आत्मत्व पर विवेचन किया जायेगा।

रस का काव्यात्मत्व :–

भरतमुनि से लेकर अद्यावधि विभिन्न काव्यशास्त्रीय समालोचकों ने काव्य के जिस तत्व में सर्वाधिक आह्लाद तथा सौन्दर्य का आकर्षण अनुभव किया उसे ही काव्य का आत्मतत्व स्वीकार कर लिया।

इसी सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों ने अनुभव किया कि काव्य का प्रमुख उद्देश्य रस का संचार करना है। जिसे कि सहृदय पाठक तथा दर्शक अनुभव करता है, अतः रस काव्य का प्रमुख तत्व है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय का आर्विभाव हुआ।

विश्लेषण के इस क्रम में किसी ने "रस" नामक काव्य तत्व

को ही काव्य की आत्मा माना है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्यों में भरतमुनि, मम्मट, विश्वनाथ तथा उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादक आचार्य उल्लेखनीय हैं। यह सिद्धान्त साहित्यशास्त्र का सर्वाधिक ख्यातिबन्ध व महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

प्राचीनकाल से ही संस्कृत वाङ्मय में रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता रहा है। व्याकरण के अनुसार रस शब्द की व्युत्पत्ति अधोलिखित चार प्रकार से की जा सकती है।

1) रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।
2) रस्यते अनेन इति रसः।
3) रसति रसयति वा रसः।
4) रसनं रसः आस्वादः।

उपरोक्त चारों में से प्रथम तथा चतुर्थ व्युत्पत्ति आस्वाद रूप होने के कारण साहित्यिक रस की कोटी में आ सकती है।

काव्य का रसात्मक प्रतिपादित करने के लिए तथा रस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने हेतु आचार्यों द्वारा प्रायः बाल्मिकी रामायण को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है।

ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन भी इसी तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं।

"काव्यस्य आत्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोक त्वमागतः।।"[1]

अलकार काव्यात्मत्व

रस व अलंकार की ही तरह कतिपय अन्य आचार्यों का मत है कि काव्य का शरीर शब्द तथा अर्थ है और इस काव्य शरीर को अलंकृत तथा सुसज्जित करने वाला एकमात्र तत्व अलंकार है अतः काव्य को प्रमुख रूप से आकर्षक एवं चमत्कारिक बनाने वाला अलंकार नामक तत्व ही काव्य की आत्मा है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्य रूप से प्राचीन समालोचक आचार्य भामह ने किया है।

अलंकारवादी आचार्य भामह, दण्डी, उद्‌भट्, रूद्रट आदि ने काव्य में रस आदि के प्राधान्य की मान्यता समाप्त करते हुए अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व प्रतिपादित किया है। इन विश्लेषकों के मतानुसार अलंकार नामक तत्व ही काव्य का प्राण है। वही उसका सार है। उसके बिना अलंकारवादी आचार्य काव्य को स्वीकार नहीं करते।[2]

इन आचार्यों के सिद्धान्तों का अध्ययन करते से पता चलता है कि अलंकार काव्य के शरीर में सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं तथा उसके चमत्कार को बढ़ाते है। इस सौन्दर्य व चमत्कार के होने पर ही काव्य में काव्यत्त्व इन आचार्यों ने स्वीकार किया है। इनके अनुसार यदि काव्य में सौन्दर्य व चमत्कार नहीं है तो वह काव्य नहीं हो सकता है।

सभी अलंकारवादी आचार्यों के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि

अलंकारवादियों ने रसादि तत्वों की पुरानी परम्परा को विखण्डित करते हुए अलंकार नामक तत्व को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया।

काव्यात्मा के रूप में रीति

अलंकारवादियों के पश्चात् वामन आदि आचार्य हुए, उन्होंने कहा कि काव्य में आस्वादन करने योग्य सौन्दर्य अलंकारों से नहीं होता, बल्कि काव्य में काव्यत्व तो केवल पदों की संघटना के कारण होता है। पदों की संघटना को रीति कहते हैं। अतः काव्य का आत्मत्व रीति ही है। आचार्य वामन के इन्हीं रीति विषयक सिद्धान्तों से रीति सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य वामन ये पूर्व भी आचार्य भरत, भामह दण्डी आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में रीति तत्व का विवेचन किया था। उन्होंने रीकि के लिए प्रवृत्ति मार्ग इत्यादि अभिधानों का प्रयोग किया, किन्तु रीति को काव्य में आत्मतत्व के रूप में आचार्य वामन ने ही प्रतिष्ठापित किया। आचार्य रूद्रट का रीति के इतिहास में प्रमुख स्थान है। उन्होंने न केवल रीति को भौगोलिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त करके काव्य व्यवहार में नियोजित किया बल्कि उन्होंने रीति का रस के साथ सम्बन्ध स्थापित किया, और रस के औचित्य से ही काव्य में रीति का संयोजक करने पर बल दिया।[1]

राजशेखर ने रीतियों का सम्बन्ध प्रवृत्तियों तथा वृत्तियों से स्थापित किया। वे रीतियों को रस का परिस्रावक अनवार्य तत्व मानते थे।[2]

कुन्तक ने रीति को कवि के आन्तरिक गुणों एवं स्वभाव की वाह्य अभिव्यक्ति माना है। वामन ने रीतियों को काव्य का सारभूत तत्व प्रतिपादित किया था किन्तु परवर्ती आचार्यों ने रीति को काव्य के आत्मतत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया। उन्होंने रीति को काव्य का बहिरंग किन्तु अनिवार्य साधन के रूप में मान्यता प्रदान की।

पश्चात्वर्ती आचार्यों में रूद्रट प्रमुख है। इन्होंने रीति का आधार समास को माना, जहाँ पहले रीति को भौगोलिक आधार पर प्रतिपादित किया गया था, वहीं रूद्रट ने समास के आधार पर ही रीतियों का विभाजन किया।[3]

हमारे मत मे रीति नामक तत्व जो कि मात्र उक्तिवैचित्र्य है। वह रस आदि के उत्कर्षाधायक तो हो सकती है किन्तु स्वयं काव्य के प्राणभूत तत्व नहीं हो सकती। रीति साधन है स्वयं में साध्य नहीं। आनन्दवर्धन ने भी कहा है कि रीतिवादियों ने अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस काव्य तत्व की व्याख्या करने में असमर्थ होकर रीतियों का प्रवर्त्तन किया था।[4]

(1) आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक 1/5

(2) (क) भामह – काव्यालंकार 1/13

(ख) दण्डी – काव्यादर्श 2/367, 1/62

काव्यात्मा के ध्वनि की मान्यता

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना आनन्दवर्धन ने की थी। उन्होंने ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ में ध्वनि नामक तत्व का विस्तृत विवेचन किया है। ध्वन्यालोक के आरम्भ में ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि ध्वनि कोई नया तत्व नहीं है बल्कि प्राचीन काल से ही विद्वान ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में मान्यता देते है, परन्तु कुछ आचार्य ध्वनि का अभाव मानते है तथा जिन आचार्यों ने ध्वनि की सत्ता स्वीकार की है, वे भी काव्यात्मा के रूप में स्वीकार नहीं करते। इसलिए आनन्दवर्धन ध्वनि के स्वरूप को कहते ह।1 उनके अनुसार काव्य में ध्वनि ही ऐसा तत्व है, जिसे काव्य की आत्मा रूप उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

आनन्दवर्धन का मत है कि अर्थ प्रमुखतः दो प्रकार का होता है।

1) वाच्य अर्थ 2) प्रतीयमान अर्थ

यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य में चारूता का प्रतिपादन करता है। अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि तत्व काव्य में ध्वनि के उत्कर्षक होते है। ध्वनि के सर्वव्यापक होने के कारण ही ध्वन्यालोककार ने उसे काव्य की आत्मा माना है। उत्तरवर्ती आचार्यों अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने आनन्दवर्धन के मत का समर्थन किया तथा ध्वनि विरोधी मतों का प्रबल खण्डन किया। इन्होंने ध्वनि के अन्तर्गत न केवल प्रमुख तत्वों का समावेश किया बल्कि उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, पद, समास, वाक्य प्रबन्ध आदि को भी ध्वनि के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया। उन्होंने ध्वनि में रस के

साथ–साथ अलंकार तथा वस्तु को भी महत्व प्रदान किया तथा इन तीनों को सामूहिक रूप से ध्वनि के अन्तर्गत मानते हुए काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

काव्यात्मा के रूप में वक्रोक्ति

कुन्तक ने "वक्रोक्तिजीवितम्" में वक्रोक्ति का अर्थ "वैदग्ध यभंगीभणिति" किया है।[2] अर्थात् विदग्धता के चमत्कार से युक्त उक्ति अथवा प्रसिद्ध कथन से भिन्न एक विलक्षण कथन ही वक्रोक्ति हैं, आचार्य कुन्तक उसी वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी मान्यता है कि वक्रोक्ति द्वारा ही काव्य में चमत्कार तथा आह्लाद को उत्पन्न किया जा सकता है। अतः वक्रोक्ति ही काव्य का सर्वस्व है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता का पूर्ण रूप से विरोध किया।

कुन्तक से पूर्व भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने भी वक्रोक्ति को भी अलंकारों का मूल माना था।[3] उनकी मान्यता है कि अलंकार काव्य में सौन्दर्य वृद्धि के हेतु है तथा वक्रोक्ति के बिला अलंकारों का कोई अस्तित्व नहीं है। वह एक वार्तामात्र है।[4] जिस

(1) रूद्रट – काव्यालंकार 14/37
(2) सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दे सति रसे सति
अस्ति तन्न बिना येनं परिस्रवति वाङ्मधु।
काव्यमीमांसा – राजशेखर अध्याय 5 पृ० 44
(3) रूद्रट – काव्यालंकार 1/6 2/4,5
(4) आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक 3/47

वक्रोक्ति को भामह तथा दण्डी ने अत्यन्त व्यापक स्वरूप दिया उसका क्षेत्र उत्तरवर्ती आचार्यों ने अति संकुचित करके वक्रोक्ति को केवल एक अलंकार विशेष ही माना। आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का जीवित कहा है, तथापि इसके उन्होंने वक्रोक्ति अलंकार का विवेचन एक शब्दालंकार के रूप में ही किया है। मम्मट के पश्चात्वचर्ती आचार्य हेमचन्द, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशव मिश्र आदि ने बक्रोक्ति का वर्णन मात्र शब्दालंकार के रूप में तथा रूय्यक, अमृतानन्द योगी इत्यादि आचार्यों ने वक्रोक्ति का निरूपण अर्थालंकारों के अन्तर्गत किया है।

कुन्तक एकमात्र ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने कि वक्रोक्ति को अतिशय महत्व देते हुए उसे काव्य का जीवित कहा तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय की नींव रखी।.उत्तरवर्ती आचार्यों के मध्य यह सम्प्रदाय विशेष प्रतिष्ठा को प्राप्त न कर सका और पश्चात्वर्ती आचार्यों को एकमात्र अलंकार के एक भेद के रूप में समेट कर संकुचित तथा तुच्छ स्थान ही दिया है।

(1) आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक 1/1
(2) वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरूच्यते।
कुन्तक – वक्रोक्तिजीवितम् 1/15
(3) (क) भामह काव्यालंकार 2/85
(ख) दण्डी काव्यादर्श 2/8 पर हृदयंमाटीका
(4) भामह – काव्यालंकार 2/87

औचित्य का काव्यात्मत्व

काव्य के आत्मतत्व का अन्वेषण करते हुए क्षेमेन्द्र ने "औचित्य" नामक तत्व को काव्य का प्राण माना तथा औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया।

क्षेमेन्द्र का मत है कि अलंकार तो अलंकार ही है तथा गुण भी गुण ही है। परन्तु रस सिद्ध काव्य का प्राण तो केवल औचित्य ही है।[1] तथा जहाँ औचित्य नामक तत्व का जरा भी अभाव होता है, वही रस भंग होकर काव्यगत सौन्दर्य तथा आकर्षण समाप्त हो जाता है। अतः काव्य में सौन्दर्य की भावना इसी औचित्य नामक काव्यतत्व पर आधारित है। काव्य के प्रत्येक अंग रस, गुण, अलंकार, रीति आदि में इस तत्व के व्याप्त रहने के कारण ही क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित या आत्मरूप माना।

औचित्य पद से आचार्य क्षेमेन्द्र का अभिप्राय है – काव्य के काव्यांगों का समुचित विनियोजन। आचार्य क्षेमेन्द्र काव्य में औचित्य के महत्व का प्रतिपादन करते हुए तर्क देते हैं कि – जिस प्रकारयदि कोई तरूणी कण्ठ में मेखला, हाथों में नुपूर, नितम्बों पर हार तथा चरणों में केयूरधारण कर ले तो वह तरूणी सुन्दरी होते हुए भी उपहास की पात्र बनती है।[2]

ठीक उसी प्रकार काव्य में रस, गुण, अलंकारादि समस्त अंगो के उपस्थित रहने पर भी यदि इन तत्वों का उचित सन्नियोजन न हो तो काव्य आकर्षण तथा सौन्दर्य को प्राप्त करने में अक्षम रहता है। इस प्रकार औचित्य का अभाव होने से

काव्य में विरसता उत्पन्न होने से काव्यत्व की हानि होती है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का प्राणत्व मानकर उसकी विवेचना की है तथा औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना की क्योंकि उनकी मान्यता थी कि रस में रसत्व, गुण में गुणत्व तथा रीति में रीतित्व तभी होता है, जबकि काव्य में उनका सन्नियोजन औचित्यपूर्ण हो।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में[1] तथा भामह ने काव्यालंकार में औचित्य के महत्व को प्रतिपादित किया है।[2] उनका मानना है कि काव्य में सबसे बड़ा दोष अनौचित्य ही है।

अभिनवगुप्त ने भी रस ध्वनि के साथ औचित्य का नित्य सम्बन्ध माना है तथा लोचनटीका में उन्होंने स्पष्ट निर्देश किया है कि औचित्य ही रस ध्वनि का जीवित तथा सारभूत तत्व है।[3]

क्षेमेन्द्र की औचित्य धारणा लोक व्यवहार के आधार पर ही प्रतिपादित की गयी है। उन्होंने माना कि मनुष्य में, काव्य में अथवा जीवन में किसी पहलू पर गुण तभी सुशोभित होते हैं जबकि उनका विनियोजन औचित्य की मार्यादा में हो अन्यथा अनौचित्य से गुण भी दोषों से परिवर्तित होकर अपकर्ष के हेतु हो

---

(1) अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणा सदा।
औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।
—क्षेमेन्द्र – औचित्यविचारचर्चा – 5

(2) कण्ठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेण वा।

(3) पाणी नुपूर बन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।।
– क्षेमेन्द्र – औचित्यविचारचर्चा – 6

जाते है।[4] किन्तु कालान्तर में क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त भी प्रतिष्ठा को प्राप्त न कर सका। परवर्ती आचार्यों ने काव्य में औचित्य की अनिवार्यता को तो स्वीकार किया किन्तु उसके काव्यात्मत्व को मान्यता नहीं दी।

काव्यात्म के रूप में गुण

सम्भवतः जब से काव्य का उद्भव हुआ तभी से काव्य में गुण तत्व का प्रयोग होता रहा है हमारे सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के कई श्लोकों में हमें माधुर्यादि गुणों के बीज प्राप्त होते है।

"प्र पर्वतानामुशती उपस्थादरवे इव विषितेहासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।"[5]

प्रस्तुत उदाहरण में विपाशा तथा शतुद्री नदियों में बहती जलधारा का मोहक चित्र अंकित है। काव्य समालोचकों की दृष्टि में इस श्लोक में उत्तम काव्य में सभी गुण मौजूद है। माधुर्य गुण तो मानों इस श्लोक का सर्वस्व है। इसी प्रकार –

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षमभिष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति।।[6]

श्लोक में माधुर्य नामक गुण दृष्टिगोचर होता है। हमारे प्राचीन उपजीव्य ग्रन्थ रामायण एवं महाभारत में भी काव्य गुणों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है।

आचार्य राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में लिखा है कि काव्यपुरूष ने दिव्य स्नातकों अठारह अधिकरणों वाली काव्य

विद्या का उपदेश दिया।

"तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः...............................

गुणौपादानिकमुपमन्युः औपनिषदिकं कुचमार इति।[1]

काव्यपुरूष ने उपमन्यु को काव्य के माधुर्यादि गुणों का उपदेश दिया। उपर्युक्त वाक्य से स्पष्ट होता है कि गुण विषयक प्रथम ग्रन्थ अवश्यमेव उपमन्यु का रहा होगा जो आज उपलब्ध नहीं है।

माधुर्यादि गुणों का महत्व इसी बात से पुष्ट हो जाता है कि आचार्य भरतमुनि से लेकर आज तक जितने भी काव्यशास्त्रीय समालोचक विद्वान कवि तथा आचार्य हुए है, लगभग सभी ने काव्य में गुणों को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है तथा अपने–अपने ग्रन्थों में काव्यगुणों का विस्तार से विवेचन किया हैं। यही नहीं वरन् अनेकशः वामन् दण्डी आदि आचार्यों ने तो काव्यगुणों को अस्पष्ट रूप से काव्य के आत्मत्व के रूप में भी मान्यता दी है।

---

(1) भरत – नाट्यशास्त्र 23 / 69
(2) भामह – काव्यालंकार 1 / 55–4 / 14
(3) उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन्
रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति–ध्वन्यालोक 2 / 6 पर लोचन टीका।
(4) उचितस्थानविन्यासदलंकृतिः।
औचित्यादच्युतः नित्यं भन्त्येव गुणाः गुणाः।।
–क्षेमेन्द्र औचित्यविचारचर्चा – 6
(5) ऋग्वेद 3 / 33, 1 / 1
(6) ऋग्वेद 1 / 164 / 20

काव्यगुणों का महत्व इस तथ्य से भी प्रतिपादित होता है कि काव्यशास्त्र के सभी समालोचकों ने अपनी काव्य परिभाषाओं में गुणों को विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। चाहे वे समीक्षक संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के हों अथवा पाश्चात्य विद्वान। सभी ने अपनी काव्यपरिभाषाओं में गुण तत्व को अनिवार्य माना है।

काव्य में माधुर्यादि गुणों को आवश्यक मानने वाले विद्वानों की कुछ काव्य परिभाषाएं अग्रलिखित हैं–

1) व्यास मुनि काव्य का लक्षण देते हुए लिखते हैं कि–

"काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।"[2]

2) आचार्य वामन के अनुसार काव्यलक्षण–

"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थवर्तते।।"[3]

3) इसी प्रकार आचार्य मम्मट भी अलंकारों की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्व प्रदान करते है।[4]

4) भोज भी गुणवत् काव्य की ही काव्य की कोटी में गणना करते है उनके अनुसार –

"निर्दोष गुणवत्काव्यमलंकारैलङ्कृतम्।"[5]

5) आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में1 भी काव्य को दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त होना ही चाहिए।

"अदोषौ सगुंणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।"[6]

6) इसी प्रकार विद्यानाथ ने भी काव्य में गुणों के महत्व को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है।[1]

7) चन्द्रालोककार जयदेव भी गुणों से विभूषित वाक्य को ही काव्य की श्रेणी में गिनते है।

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।"[2]

आचार्य वामन ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् के "गाहन्तां महिषा निपान सलिलं – ज्यावन्धमस्प्रद्धनुः।"[3] इत्यादि उद्धरण में शब्द तथा अर्थ के सभी 10–10 गुणों का समावेश माना है।[4]

आचार्य वावन ने रीति को काव्यात्मा के रूप में प्रतिपादित किया है किन्तु उन्होंने माधुर्यादि गुणों को न्यूनाधिक मात्रा के आध ाार पर ही रीतियों को उत्तम, अधम तथा मध्यम श्रेणी का घोषित किया था। वस्तुतः वे गुण को ही रीति का प्राणतत्व मानते हैं।[5] तथा रीति को काव्य का आत्मतत्व मानते है। अतः निष्कर्ष रूप यही कहा जा सकता है कि वास्तव में आचार्य वामन गुण को ही काव्य का आत्मतत्व घोषित करते हैं।

आचार्य कुन्तक ने भी वैदर्भी आदि तीनों मार्गों में सुकुमार्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य नामक चार गुणों को अनिवार्य माना है।[6]

आचार्य रूद्रट द्वारा आविष्कृत अनुप्रासदि पांच वृत्तियों को भी परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं तीन माधुर्यादि काव्यगुणों में ही समन्वित कर दिया है।[7]

(1) राजशेखर – काव्यमीमांसा – शास्त्रसंग्रह 1/41
(2) व्यासमुनि – अग्निपुराण खण्ड 1/7 पृ० 363
(3) वामन – काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/1/1
(4) सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि – मम्मट–काव्यप्रकाश 1/4
(5) भोजराज – सरस्वती कण्ठाभरण 1/2
(6) हेमचन्द्र – काव्यानुशासन पृ० 19

संस्कृत साहित्य विमर्श में भी कहा गया है कि–

"रीयते गुणानां विशेषों ज्ञायतेऽनया सति।"[8]

आन्नदवर्धन के पश्चात्वर्ती सभी आचार्यों ने काव्य गुणों को रसनिष्ठ ही माना है। उनके अनुसार गुण रस के धर्म है, न कि शब्दार्थ के जैसा कि वामन् दण्डी आदि का मत है।

काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका में भी लिखा है।

"गुणस्य रसनिष्ठेऽपि तद्व्यञ्जकपरं पदवमिति।"[9]

इसी प्रकार काव्यप्रकाश की ही एक अन्य टीका "सुधासागरी सहिते" में भी कहा गया है कि– "काव्यस्य गुणत्वं स्वव्यंग्यास्वादसमवायसम्बन्धेन न तु साक्षात्। तेषां रसैकधर्मत्वात् इति।"[10]

मम्मटाचार्य के काव्यलक्षण में उद्धृत "सगुणौ" पद की व्याख्या करते हुए कहा गया है–

(1) विद्यानाथ–प्रतापरूद्रयशोभूषण–काव्याप्रकरणम् 1
(2) जयदेव–चन्द्रलोक 1/7/1
(3) कालिदास–अभिज्ञानशाकुन्लम् 2/61
(4) लक्ष्मीचन्दशास्त्री–रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियां
(5) भारतीयकाव्यशास्त्रमीमांसा – पृ० 382
(6) रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियां – पृ० 89
(7) रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियां – पृ० 109
(8) संस्कृतसाहित्यविमर्श – पृ० 636
(9) काव्यप्रकाशप्रदीपटीका–पृ० 19
– गोपराजुरामा–ऋतम् पृ० 341
(10) काव्यप्रकाश की सुधासागरीसहिता
– पृ० 24 –गोपराजुरामा – ऋतुम् पृ० 340

•"गुणानां रसैः सह समवायः सम्बन्धः।"[1]

गुणाः रसधर्माः।[2]

अर्थात् गुणों का रस के साथ समवाय सम्बन्ध है गुण रस के धर्म है इसलिए गुण तथा रस परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से रहकर काव्य का उत्कर्ष करते है। तथा उसे पाठकों एवं दर्शकों के लिए आस्वादन योग्य बनाते हैं।

आचार्य वामन काव्य गुणों को रस का धर्म नहीं मानते। उनके अनुसार गुण रस का आश्रित नहीं है, बल्कि रस ही कान्ति नामक गुण में अन्तर्निर्हित है।[3] इस प्रकार आचार्य वामन काव्य की आत्मा माने जाने वाले रस तत्व को भी गुणों के अन्तर्गत मानते हैं उनकी दृष्टि में तो काव्य गुण ही काव्य की आत्मा है। परन्तु आचार्य वामन के इस मत का ध्वनिवादियों ने खण्डन किया तथा गुण की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार कर दिया। उनके अनुसार तो गुण रसाश्रित है।[4] तथा काव्य के आत्मरूप रस के उत्कर्ष के शोभा उत्पादक धर्म है।[5] आनन्दवर्द्धन के पश्चात मम्मट[6] तथा विश्वनाथ[7] ने भी उनका ही अनुकरण किया।

कालान्तर में पण्डित राजजगन्नाथ जी ने काव्यगुणों पर अपने मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत किया तथा काव्यगुणों को रसगत, शब्दार्थगत तथा रचनागत वर्षों में विभक्त किया। उन्होंने कहा कि चित्त को प्रभावित कर उसे द्रुत, विस्तृत तथा विकसित करने वाला तत्व ही गुण है।[8]

इस प्रकार पण्डित राजजगन्नाथ ने गुणों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक कर दिया। उन्होंने काव्य का मूल तत्व रमणीयता को माना है और गुण काव्य में इसी रमणीयता को उत्पन्न करते है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय भी काव्य के लिए गुणों को अति आवश्यक मानते है। बाल्मिकी ने भी रामायण में इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया है। रामायण का गायन लव कुश के मुख से सुनकर बाल्मिकी कहते है। –

"अहो गीतस्य माधुर्य.......................... ।"[9]

प्रस्तुत पद्य में माधुर्य गुण का स्पष्ट उल्लेख किया है।

महाभारत में व्यास जी भी श्रव्यत्व, श्रुतिसुखत्व, समता तथा माधुर्य को काव्यरचना का आवश्यक गुण मानते हैं।

"श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम्।।"[1]

इस प्रकार अनादिकाल से ही संस्कृत काव्यशास्त्र में गुणों की अनिवार्यता एवं महत्व को स्वीकारा जाता रहा है।

हिन्दी समीक्षकों की दृष्टि में गुण

हिन्दी समीक्षकों में जिन आचार्यों ने गुणों को काव्य का अभिन्न अंग माना है। उनमें आचार्य चिन्तामणि, श्रीपति, सोमनाथ इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इन आचार्यों पर संस्कृत के आचार्य का स्पष्ट प्रभाव दिखलायी पड़ता है।

गुण विवेचन की दृष्टि से हिन्दी आलोचकों के दो वर्ग किये जा सकते हैं।

प्रथम वर्ग में वे आचार्य है जिन्होंने संस्कृत के प्राचीन

आचार्यों की मान्यताओं का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया तथा सर्वमान्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का प्रयास किया। इस वर्ग के आचार्य में बाबू गुलाबराय, पण्डित विश्वनाथ प्रताप मिश्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुन दास केडिया आदि समीक्षकों के नाम उल्लेखनिय है।

द्वितीय वर्ग में वे आचार्य है, जिन्होंने साहित्य समीक्षा के नवीन मूल्यों के आधार पर न केवल प्राचीन गुण सिद्धान्त का विश्लेषण किया बल्कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी गुणों का परीक्षण किया। इन समीक्षकों में बाबू श्यमसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० नागेन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[2]

डॉ० नागेन्द्र का गुणविषयक सिद्धान्त अधिक तर्कयुक्त है। वे प्राचीन आचार्यों की भांति ही गुणों को काव्य की आत्मा रूप रस

(1) सुधासागरी सहिता – पृ० 23–ऋतम्–पृ० 341
(2) सुधासागरी सहिता – पृ० 23–ऋतम्–पृ० 341
(3) दीप्तरसत्वं कान्तिः–वामन–काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 3/21/5
(4) ध्वन्यालोक 2/6
(5) काव्यप्रकाश – 8/68
(6) मम्मट – काव्यप्रकाश – 8/66
(7) विश्वनाथ – साहित्यदर्पण 8/1
(8) तत्र श्रृंगारकरूणशान्तेभ्यो द्रुतिश्चित्तस्य———— कारणत्र्यमेव, कल्प्यते, कारण वैचित्र्येणल्याणामेव स्मुटमुपलम्भात्।
(9) बालकाण्ड 4/17 – बलदेव उपाध्याय –संस्कृत आलोचना पृ० 43

के उत्कर्षाधायक तत्व के रूप में ही मान्यता देते है। वे काव्यगुणों को ध्वनिवादी आचार्यों की तरह चित्तवृत्ति रूप भी मानते है तथा रीतिवादी आचार्यों की तरह शब्दार्थ का धर्म भी।

डॉ० नागेन्द्र रस तथा गुणों की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि–

"रस प्रमाता की अखण्ड आनन्दायक चित्त स्थिति है। जिसमें सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती है और गुण चित्त के द्रवीभाव, दीप्तत्व तथा व्यापकत्व की वृत्ति है, अतः रसानुभूति के लिए मनोभूमि तैयार करने में गुण सहायक होते है।"[3]

इस प्रकार हिन्दी के साहित्यशास्त्रियों ने भी काव्य के अप्रतिम महत्व को स्वीकार किया है, तथा गुणों की व्याख्या तथा विवेचन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।?

संस्कृत तथा हिन्दी समीक्षकों के गुण विषयक धारणाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है ताकि प्राचीनकाल से ही "रस" को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता रहा है। ध्वन्यालोक में जिस रस तत्व को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ के रूप में विशद निरूपण हुआ है, काव्य के अन्य तत्व गुण, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य काव्य के मात्र वाह्र्य सौन्दर्य उपादान हैं। यह तत्व काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि करते है तथा रस के उत्कर्षाधायक होते है। यह तत्व साधनमात्र है साध

(1) बलदेव उपाध्याय – संस्कृत आलोचना – पृ० 43
(2) भारतीयकाव्यशास्त्र मीमांसा पृ० 382
(3) भारतीयकाव्यशास्त्र की भूमिका भाग 2 पृ० 63–64

य नहीं। अतः मेरा मत है कि केवल रस ही ऐसा काव्यतत्व है जो कि काव्य की आत्मा कहलाने योग्यं है। आदिकाल से काव्य के श्रवण तथा पाठन का उद्देश्य रस प्राप्ति ही रहा है। अतः रस साधन है तथा काव्य के अन्य तत्व अनिवार्य होते हुए भी रस के उत्कर्ष के हेतु मात्र हैं। जैसे कि मानव शरीर में आंख, नाक, कान इत्यादि अंगों के अत्याधिक महत्वपूर्ण होने पर भी उन्हें आत्मा नहीं कहा जा सकता आत्मा अलग ही विलक्षण तत्व है, उसी प्रकार काव्य में प्रयुक्त होने वाले रीति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि तत्वों को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता। ध्वनिवादियों का वही प्रतीयमान त्रिविध अर्थ ही काव्य का प्राण कहलाने योग्य है।

परिशिष्ट

माधुर्यादि काव्यगुणों का काव्यशास्त्र में विशिष्ट स्थान है। गुण न केवल रस का उत्कर्ष करते हैं, वरन् काव्य सौन्दर्य के आवश्यक उपादान भी हैं।

काव्यशास्त्रीय चिन्तन के प्रारम्भिक युग से ही काव्यगुणों पर विचार होता रहा है। आचार्य भरत से पूर्व काव्यशास्त्र का कोई भी प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है, किन्तु इससे भरतपूर्व काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि नाट्यशास्त्र में भरत से पूर्व हुए आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में गुण निरूपण का श्रेय उपमन्यु को दिया है।

प्रारम्भ में काव्यगुणों का विवेचन केवल दोष के अभाव रूप में ही हुआ है। भरतमुनि, दण्डी, वामन, भामह आदि ने गुणों को शब्दार्थगत माना तथा उसके शब्दगत एवं अर्थगत विभिन्न भेद किये। ध्वनि प्रस्थान की स्थापना के साथ ही आनन्दवर्धन तथा उसके अनुयायी मम्मट तथा आचार्य विश्वनाथ आदि ने रसादि रूप काव्यात्मा के उत्कर्ष आधायक तत्व के रूप में गुणों का निरूपण किया तथा काव्यात्मा "रस" के साथ–साथ काव्यगुणों का सम्बन्ध स्थापित करते हुए गुणों की भावात्मक सत्ता को मान्यता दी।

प्रारम्भ से ही आचार्यों ने काव्य के अन्य तत्वों रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, अलंकार आदि की अपेक्षा गुणों को विशेष महत्व प्रदान किया है। उन्होंने काव्यगुणों को काव्य सौन्दर्य का आवश्यक

उपादान माना।

दण्डी ने गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण माना तथा समाधि नामक गुण को तो "काव्यसर्वस्व" कहकर दण्डी ने सभी मार्गों के लिए गुणों की उपयोगिता सिद्ध की। आचार्य वामन जिन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना, उन्होंने भी रीति के विधायक तत्व के रूप में माधुर्यादि गुणों को ही स्वीकार किया। कुन्तक ने तो सौभाग्य गुण को "काव्यैकजीवित" कहकर सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है।

काव्यशास्त्र के अध्ययन से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है, कि अलंकार शास्त्र में जो महत्व गुण को प्राप्त है, वह किसी अन्य सम्प्रदाय को नहीं है। अलंकार सम्प्रदाय में अलंकारो को जो विशिष्ट पद प्राप्त हुआ, वह रीति तथा ध्वनि सम्प्रदाय की उद्भावना के साथ ही समाप्त हो गया। वक्रोक्ति कालान्तर में मात्र अलंकारों का एक भेद ही बन गया, जिसे कुन्तक ने काव्य के जीवित के रूप में प्रतिष्ठित किया था। रीति सम्प्रदाय ने रीति को मूर्धन्य स्थान दिया किन्तु बाद में वह रीति ध्वनि युग में गुण व्यंजना की सहायिका ही बनकर रह गयी।

इसी प्रकार औचित्य को "क्षेमेन्द्र" ने तो महिमा मण्डित किया किन्तु परवर्ती अन्य आचार्यों के बीच औचित्य कोई आदर न प्राप्त कर सका। यही नहीं रस को भी वामन तथा भोज आदि आचार्य ने कान्ति नामक गुण का एक भेद मात्र बना दिया। ध्वनि प्रस्थान के खण्डन के लिए भी ध्वनि ध्वंस प्रस्थान की स्थापना हुयी। यद्यपि यह सम्प्रदाय अपने उद्देश्य में

सफल नहीं हो पाया, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि काव्यशास्त्र के सभी प्रस्थानों ने काव्य गुणों को समादृत किया है। गुणों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र में दूसरा ऐसा प्रस्थान नहीं है, जिसे काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों ने आदर प्रदान किया हो। काव्य गुण में ही यह वैशिष्ट्य है कि गुणों को उनके गौरवमय स्थान से च्युत करने का प्रयत्न किसी भी प्रस्थान ने नहीं किया।

काव्य गुणों के स्वरूप नाम तथा भेदों के विषय में भी आचार्यों में मतभेद व्याप्त रहा है। दण्डी तथा भरत ने गुणों के दस भेद माने, वहीं वामन ने उन्हीं अभिधानों से शब्द गुण तथा अर्थगुण से 20 भेद कर दिए। महर्षि व्यास ने अग्निपुराण में शब्दगत अर्थगत तथा उभयगत भेद से गुणों के अठारह भेद कर दिए। गुणों की सर्वाधिक संख्या भोजराज ने निर्धारित की। उन्होंने गुणों के चौबीस भेद किए है।

कुन्तक ने जिन छः गुणों का विवेचन किया वह प्राचीन आचार्यों के द्वारा निरूपित गुणों से नामतः तथा स्वरूपतः भिन्न ही थे, किन्तु भरत तथा दण्डी के मध्यवर्ती भामह ने गुणों की संख्या मात्र तीन निर्धारित की। बाद में मम्मटादि आचार्यों ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए गुणों के अन्य भेदों का माधुर्यादि इन्हीं गुणों में अन्तर्भाव माना है।

काव्य के भेदों के विषय में द्रष्टव्य यह है कि उपर्युक्त मतभेद केवल शब्दार्थगत गुणों के विषय में ही है, रसगत गुणों के नहीं। रसगत गुणों की संख्या सभी आचार्यों ने तीन ही मानी है माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। आचार्य मम्मट ने जिस माधुर्य गुण को

चित्त की द्रुति के, ओज गुण को चित्त के दीप्ति के तथा प्रसाद गुण को चित्त के विकास हेतु रूप में मान्यता दी। उसे ही आचार्य विश्वनाथ ने द्रुति, दीप्ति तथा विकास स्वरूप के अभिधान से विभूषित किया।

वैशेषिक गुणों के सन्दर्भ में सर्वप्रथम निरूपण हमें श्रृंगारप्रकाशकार भोजराज के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन्हीं दोष गुणों को भोजराज ने वैशेषिक गुण नाम से अभिहित किया है। इन दोष गुणों का संकेत आचार्य भामह के ग्रन्थ में भी प्राप्त होता है।

गुणों का रस के साथ अविनाभाव सम्बन्ध सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। गुण रस का उत्कर्ष करते है, तथा काव्य के आत्मरूप रस में गुण अचल स्थिति से रहते हैं। यद्यपि वामनादि आचार्यों ने रस का अन्तर्भाव कान्ति नामक गुण में किया है, किन्तु यह उचित नहीं है। काव्य में गुणों के महत्व तथा उपयोगिता को समझते हुए भी गुणों को रस के अंगरूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, रस को गुण के अन्तर्गत नहीं।

आचार्य कुन्तक ने औचित्य को गुण के एक भेद के रूप में प्रतिपादित किया, किन्तु आचार्य क्षेमेन्द्र का मत है कि औचित्य के अभाव में गुण भी दोष रूप हो जाते हैं, तथा औचित्य से दोष भी गुण रूप होकर वैशेषिक गुण कहलाने लगते हैं। अतः काव्य में गुण गुणत्व को तभी प्राप्त करते हैं जब उनका सन्निवेश उचित प्रकार से किया गया हो।

अलंकारों की अपेक्षा काव्य में गुण की उपयोगिता निःसंदेह अधिक है। अलंकार काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि तो अवश्य करते हैं,

किन्तु अलंकारों के उपस्थित रहने अथवा अभाव होने पर काव्यत्व की कोई हानि नहीं होती, जबकि काव्य में गुणों की उपस्थिति अनिवार्य है। गुण रस के धर्म होने के कारण गुणों के अभाव में रसत्व को हानि होती है। उद्भट, दण्डी भामह आदि आचार्यो ने तो अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व सिद्ध किया तथा गुण अलंकार को एक ही माना किन्तु वामन ने सर्वप्रथम गुण तथा अलंकार में अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने सिद्ध किया कि काव्य में शोभा को उद्भूत करने वाले तत्व गुण है तथा काव्य में शोभा में वृद्धि करने वाले तत्वों को अलंकार कहते है।

गुणों का रीतियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। गुण तथा काव्यरीतियों के सम्बन्ध में भी दो विवाद रहे है। पहले मत के अनुसार गुण रीतियों पर आश्रित हैं। तथा दूसरे मतावलम्बियों का मानना है कि रीति गुण पर आश्रित है। पहले मत का समर्थन ध्वनिवादी आचार्यों ने किया, उन्होंने विशेष प्रकार की संघटना को गुण की व्यंजना में सहायक माना है। किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि वस्तुतः गुण रीतियों के विधायक तत्व हैं। गुण रीतियों पर अवलम्बित नहीं है, वरन् रीतियां ही गुण से की आश्रित है। गुणों में पृथक, रीतियों का कोई अस्तित्व नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं, कि काव्य में गुणों का विशेष महत्व है। गुण काव्य में उसी प्रकार समादृत तथा गौरवमय पद पर आसीन है जैसे कि रस, अलंकार आदि अन्य तत्व।

ग्रन्थावली

क्र	ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अलंकारशास्त्र का इतिहास	डॉ० कृष्ण कुमार	साहित्यभण्डार मेरठ	1988
2.	अलंकारशास्त्र की परम्परा	डॉ०रजवंशसहायहीरा	चौ० संस्कृत सरीज वाराणसी	1970
3.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास	साहित्य भण्डार मेरठ	1969
4.	अलंकार शेखर	केशव मिश्र	चौ० संस्कृत सीरिज वाराणसी	1984
5.	अग्निपुराण	व्यासमुनि	डॉ० चमनलाल गौतम संस्कृत संस्थान बरेली	1969
6.	अलंकारसर्वस्व टीका	समुद्रबन्ध	— —	
7.	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त	गायकवाड़ ओ० इन्स्टी० बडौदा	1984
8.	ऋतम्	निर्देशक जे०पी० सिन्हा	अखिल भारतीय संस्कृत परिषद, लखनऊ	1983
9.	ऋग्वेदसंहिता	——	वैदिक संशोधन मण्डल तिलक महाराष्ट्र	
10.	ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर	विन्टरनित्स	——	
11.	औचित्यविचारचर्चा	क्षेमेन्द्र	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	1992
12.	काव्यमीमांसा	राजशेखर	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	1982

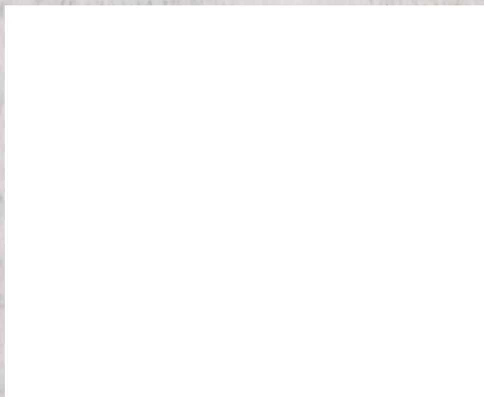
13. काव्यालंकारसूत्राणि मुनिवरयास्क हरि०सा०सं०गुरूकुल झज्जर रोहतक(विक्रमाब्द)

14. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति वामन चौ० सुर भारती वाराणसी 1989

15. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति गोपेन्द्रतिप्पभूपाल वाराणसी संस्कृत सीरिज 1907 (कामधेनु टीका)

16. काव्यादर्श दण्डी चौ० विद्याभवन वाराणसी

17. काव्यालंकार भामह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद विक्रमाब्द 2019





नाम	:	पूजा अग्रवाल
जन्म	:	1975 पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखण्ड
शिक्षा	:	एम॰ ए॰ संस्कृत, हिन्दी हे॰न॰ब॰ गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर (उत्तराखण्ड)
पी-एच॰डी॰	:	2000 हे॰न॰ब॰ गढ़वाल विश्वविद्यालय
यू॰जी॰सी॰नेट	:	1999.
शोधपत्र	:	राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में शोध-पत्र, प्रकाशित
सम्प्रति	:	हे॰ने॰ब॰ गढ़वाल विश्वविद्यालय में अध्यापन में कार्यरत।

ISBN - 81-85394-46-6

Rs. 350.00



सरिता बुक हाउस

186, गुरू रामदास नगर, लक्ष्मी नगर दिल्ली-110092

मो. 9899676343, 09411535527, 09410324032